हिन्दी साहित्य शोध और समीक्षा

हिन्दी साहित्य : शोध और समीक्षा

लेखक
डॉ० कृष्ण दिवाकर
एम० ए०, पी-एच० डी०
प्राध्यापक, हिन्दी विभाग,
पूना विश्वविद्यालय, पूना ७

दिल्ली पुस्तक सदन
दिल्ली-७

हिन्दी साहित्य : शोध और समीक्षा

लेखक

डॉ० कृष्ण दिवाकर

एम० ए०, पी एच० डी०

प्राध्यापक, हिन्दी विभाग,
पूना विश्वविद्यालय, पूना ७

दिल्ली पुस्तक सदन

दिल्ली-७

हिन्दी साहित्य : शोध और समीक्षा

लेखक
डॉ० कृष्ण दिवाकर
एम० ए०, पी-एच० डी०
प्राध्यापक, हिन्दी विभाग,
पूना विश्वविद्यालय, पूना ७

दिल्ली पुस्तक सदन
दिल्ली-७

प्रकाशक
दिल्ली पुस्तक सदन,
१६ यू० बी० बंगलो रोड
दिल्ली ७

प्रथम संस्करण अप्रैल, १९६८

मूल्य १०.००

मुद्रक
इण्डिया प्रिंटर्स,
एसप्लेनेड रोड
दिल्ली ६

स्वर्गीय पिता पूज्य आबासाहब

तथा

स्नेहमयी माता श्रीमती उमादेवी

को

सादर समर्पित

भूमिका

"हिंदी साहित्य शोध और समीक्षा" नामक प्रस्तुत ग्रंथ डा० कृष्ण दिवाकर के मनन और अनुशीलन का एक सुंदर परिणाम है। इस ग्रंथ मे लेखक ने प्रथम बारह निबंधो मे शोध के तथ्यानुसंधान का संतुलित चिंतन प्रस्तुत किया है। शेष निबंध समीक्षात्मक हैं। इन समीक्षात्मक निबंधो में जो वैविध्य है, वह लेखक के अध्ययन की विभिन्न दिशाओं का संकेत करता है।

कुछ लोगों का इधर ऐसा विचार है कि शोध और समीक्षा का कोई महत्त्वपूर्ण संगठन नही है बल्कि दोनो अध्ययन के अलग-अलग रूप हैं। यह विचार इसलिए विशेष रूप से हमारे सामने आया है क्योंकि शोध निबंधों और शोध प्रबंधों के नाम पर हमे जो बहुत कुछ प्राप्त होता है, उसमें शोध की अपेक्षा समीक्षा अधिक है। शोध के क्षेत्र के अंतर्गत समीक्षा एक साधन और सहायक उपकरण के रूप में आ सकती है और आवश्यक भी है परन्तु जहाँ शोध का कोई निश्चित परिणाम न हो वहाँ समीक्षा शोध की सहायक नही बन पाती और शोध का स्वरूप भी बिगड़ जाता है। वास्तव मे ये दोनो ही कार्य अन्योन्याश्रित हैं। शोध के द्वारा समीक्षा को नये तथ्य प्राप्त होते हैं और नयी दृष्टि भी मिलती है। साथ ही साथ समीक्षा के द्वारा शोध अधिक ठोस आधारभूमि प्राप्त करता है और उसके परिणाम अधिक विश्वसनीय होते हैं। अत शोध और समीक्षा परस्पर विरोधी नही वरन एक दूसरे की पूरक हैं। इस दृष्टिकोण को अपनाने पर शोध मे किसी निश्चित परिणाम सबंधी संकल्प का होना भी आवश्यक जान पडता है। शोध की उच्च भूमियाँ जो तात्त्विक निष्कर्षों के रूप मे उपलब्ध होती हैं, उनके लिए पहले सम्यक और परिपूर्ण तथ्यानुसंधान अपेक्षित होता है। यह तथ्यानुसंधान विश्वसनीय भूमिका तभी बना सकता है जब कि प्रौढ समीक्षण दृष्टि के साथ उसके परिणामो को प्रस्थापित किया गया हो।

हिंदी साहित्य के अंतर्गत जहा कई क्षेत्रो म तात्त्विक अनुसंधान की उच्च भूमिया बन चुकी हैं वही अनेक क्षेत्र ऐसे हैं जिनम तथ्यानुसंधान भी अभी पूरा नही हुआ है। उसका कारण यही है कि हिंदी साहित्य रचना का क्षेत्र अत्यंत व्यापक रहा है और विभिन्न भाषा भाषियो के द्वारा भी रचा जाकर विभिन्न क्षेत्रो मे उपलब्ध होता है। साथ ही देवनागरी के अतिरिक्त अन्य लिपियो म भी मिलता है। अत इन सभी बातो का ध्यान रख कर हिंदी तथ्यानुसंधान को परिपूर्ण करना आवश्यक है।

प्रस्तुत ग्रंथ के लेखक ने अपने अनुसंधान को विशेष रूप म रीतियुग के अंतर्गत परिसीमित किया है और इस युग के साहित्य से संबंधित अनेक नये तथ्य उसने प्रकट

किये हैं। चितामणि के दो नये ग्रंथो—"रसविलास" और "श्रीकृष्ण चरित्र" को प्रकाश म लाने का काय अभिनदनीय है। भूषण के नाम और मुरलीधर कविभूषण के साथ महाकवि भूषण के नाम की भ्राति का निराकरण भी उसने तकसगत और तथ्य पर आधारित प्रमाणो को प्रस्तुत करते हुए किया है। कवीद्राचाय सरस्वती और कवीद्र परमानद को कुछ लोग एक ही व्यक्ति मानते हैं। इस सम्बन्ध मे भी लेखक ने अपने सुस्पष्ट तक और प्रमाण उपस्थित कर अपने निश्चित मत को न्यक्ति किया है। इसी प्रकार नपशभु या सभाजी को अभी तक हिन्दी साहित्य एक शृगारी कवि के रूप म ही जानता रहा। इस ग्रथ म लेखक ने उनकी एक अज्ञात रचना "सप्तसतक" की खोज करके—नपशभु का एक दूसरा ही पक्ष प्रस्तुत किया है। इसी प्रकार नृपशभु के काव्यगुरू कविकलश सबधी उनके कतित्व का विवेचन हिंदी साहित्य के लिए नयी सूचना है। "मराठी लोक-कवियो की हिंदी रचनाएँ" हिंदी और अहिंदी दोनों ही क्षेत्रों मे अपना विशिष्ट महत्व निर्धारित करती हैं। डॉ० न्विाकर ने उन्हे प्रथम बार प्रकाश म लाने का प्रयत्न किया है। इस प्रकार हिंदी के स्वत प्रचार और प्रसार सबधी महत्वपूर्ण दिशा को स्पष्ट करके हिंदी के राष्ट्रभाषा स्वरूप के लिए एक सुदृढ आधार खोज निकाला है।

जहाँ तक शेष समीक्षात्मक निबधों का प्रश्न है, वे विभिन्न विषयो पर लेखक के अध्ययन और विचारो का सकलन प्रस्तुत करते हैं। ये कुछ नमूने के निबध हैं और हमे आशा है कि और अधिक महत्वपूर्ण विषयों से सबधित निबध भी प्रकाश मे आयेंगे। इस सग्रह के प्रथम बारह निबध तो निश्चय ही बडे महत्व के हैं, जिनके अन्तगत हिंदी साहित्य के अज्ञात तथ्यो की खोज और अस्पृष्ठ भूमिया का उद्घाटन किया गया है। लेखक का यह प्रयत्न सराहनीय है और मुझे विश्वास है कि उसके इस प्रकार के प्रयास चलते रहेंगे और ऐसे निबधों से हिन्दी साहित्य का भण्डार बराबर लाभान्वित होता रहेगा। लेखक के इन सब प्रयासो के लिये मेरी शुभ-कामनाएँ हैं।

—भगीरथ मिश्र

१७, फरवरी १९६८
सागर विश्वविद्यालय,
सागर (मध्यप्रदेश)

प्राक्कथन

स्वाधीनता के पश्चात् हिन्दी साहित्य के विकास को एक नयी दिशा प्राप्त हुई। इस काल मे साहित्य की विभिन्न दिशाओं में युग की माँग तथा आवश्यकता को लक्ष्य कर अनेक रचनाओं का प्रणयन हुआ है, हो रहा है। उपन्यास, कहानी, नाटक काव्य, ललित निबध आदि के अतिरिक्त शोधात्मक एव समीक्षात्मक साहित्य भी विपुलता से प्रकाशित हुआ है। हिन्दी साहित्य को गतिविधि देने में पत्र-पत्रिकाओं का भी अत्यत महत्वपूर्ण हाथ रहा है।

समय-समय पर प्रकाशित इन पत्रिकाओं मे शोध तथा समीक्षा विषयक कई महत्त्वपूर्ण लेख मिलते हैं जिनमे नये तथ्य, दृष्टिकोण तथा नयी सूचनाएँ होती हैं। ऐसे महत्त्वपूर्ण लेखों को सगृहीत कर उन्हें पुस्तक रूप में प्रकाशित करना आवश्यक होता है वरन् उनके बिखर जाने अथवा खो जाने का भय सदैव रहता है। सभवत इसी कारण से हिंदी साहित्य के अद्यावधि इतिहासों तथा ग्रथो में विषय से सबधित महत्वपूर्ण तथ्य एव सूचनाओं का समावेश नहीं हो पाता। हिंदी मे प्रकाशित समस्त पत्रिकाओं को एक साथ प्राप्त करना भी एक व्यावहारिक कठिनाई है। अत इसी दृष्टि को सामने रखकर तथा कुछ हितैषी मित्रों के आग्रह पर 'हिंदी साहित्य शोध और समीक्षा' प्रस्तुत कर रहा हूँ।

इस पुस्तक के निबध प्रमुखत शोधात्मक एव समीक्षात्मक हैं। इनमे से अधिकाश निबध विभिन्न पत्र-पत्रकाओं मे समय-समय पर प्रकाशित हुए हैं और कुछ निबध नये लिखे गये हैं। अत इनमें किसी प्रकार के सूत्र अथवा क्रम का न मिलना स्वाभाविक ही है। विषय सूची से स्पष्ट होगा कि निबधो के अधिकाश विषय मुख्यत रीतिकाल तथा आधुनिक युग से सबधित हैं। इन निबधो के सबध म मैं कुछ कहना नही चाहता परतु प्रामाणिक सामग्री के आधार पर उपलब्ध तथ्य को सत्य रूप में प्रस्तुत करते समय एकाध स्थल पर गुरुजन सदश हिंदी के मान्य विद्वानो के मतो का खडन भी करना पड़ा है। उन विद्वानो के प्रति मुझे पूर्ण आदर है और विश्वास है कि वे मेरी स्पष्टोक्ति को अन्यथा न मानेंगे। आशा है कि हिंदी साहित्य के इतिहास लेखक, अपने नये-नये सस्करणों में इन निबधो की नयी सूचनाओं का उपयोग करेंगे।

राष्ट्रवाणी, नागरी प्रचारिणी पत्रिका सम्मेलन पत्रिका, हिन्दुस्तानी एकेडमी, विश्वज्योति, सप्तसिधु, रसवती, पुणे विद्यापीठ पत्रिका आदि पत्रिकाओं तथा महादेवी अभिनदन ग्रथ एव राष्ट्रभाषा विचार सग्रह ग्रथों का साभार उल्लेख करना आवश्यक है, जिनमें प्रस्तुत पुस्तक के कतिपय लेख प्रथम बार प्रकाशित हुए

थे। सागर विश्वविद्यालय के हिंदी विभागाध्यक्ष गुरुवर्य डा० भगीरथ मिश्रजी के प्रति किन शब्दों में कृतज्ञता व्यक्त करूँ, जिन्होंने अपने कर्मठ व्यक्तित्व से न केवल मुझे प्रभावित ही किया अपितु अविरत लेखन की संजीवनी प्रदान कर मुझे क्रियाशील बनाया। इसके अतिरिक्त आदरणीय आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी, डा० आनन्द प्रकाश दीक्षित, डॉ० विनय मोहन शर्मा डा० नगेंद्र डा० रामनिरंजन पाण्डेय, श्री, गा० प० नेने आदि गुरुजनों की समय समय पर विचार विमर्श द्वारा जो सहायता तथा प्रेरणा मुझे मिलती रही उसके लिए मैं इन सभी का हृदय से अत्यंत आभारी हूँ। दिल्ली पुस्तक सदन के संचालक भाई व्रज भूषण नागर तथा व्रजमोहन को मैं विशेष धन्यवाद देता हूँ जिन्होंने मेरे इन बिखरे हुए निबंधों को पुस्तकाकार रूप में प्रकाशित कर विद्वानों के सम्मुख रखने का सुअवसर दे दिया। पूना में रहकर पुस्तक का प्रूफ देखना मेरे लिए संभव न था अतः भाई हरिकृष्ण शास्त्री ने अत्यंत सावधानी से प्रूफ देखकर अपने उत्तरदायित्व को पूरा किया, इसलिए उन्हें धन्यवाद देना आवश्यक है। इतनी सावधानी बरतने पर भी यन्त्रालय द्वारा कुछ त्रुटियाँ रह ही गयी हैं, जिसके लिये मैं पाठकों का क्षमाप्रार्थी हूँ।

आशा है कि प्रस्तुत पुस्तक हिन्दी साहित्य के अध्येताओं, प्राध्यापकों तथा विश्वविद्यालीयन छात्रों के लिए भी उपयोगी सिद्ध होगी।

हिन्दी विभाग,
पूना विश्वविद्यालय, पूना ७

—कृष्ण दिवाकर

विषयानुक्रम

१ | चिंतामणि कृत 'भाषापिंगल' का रचनाकाल

रीतिकाल के प्रसिद्ध आचार्य एव कवि चितामणि त्रिपाठी के संबध म प्रकाशित हिन्दी साहित्य में जो परिचय उपलब्ध होता है वह अनेक दृष्टियो से अपूर्ण तथा भ्रातिपूर्ण प्रतीत होता है। आचार्य केशव के पश्चात रीतिकालीन साहित्य में काव्यशास्त्र के विविधागो का सम्यक निरूपण कर परवर्ती आचार्यों को प्रशस्त मार्ग का दिग्दर्शन कराने वाले व्यक्ति आचार्य चिंतामणि त्रिपाठी ही थे। दुर्भाग्य से इस महत्वपूर्ण आचार्य कवि की ओर अधिकाश विद्वानो का विशेष ध्यान नही गया है। जहाँ कही विशिष्ट सदर्भ म अथवा स्वतत्र रूप से चिंतामणि त्रिपाठी की चर्चा की गयी है उसम शिवसिंह सरोज म लिखी हुई बातो का अधानुकरण मात्र दिखायी देता है। चिंतामणि के सबध म विशेष खोज करना दूर ही रहा परन्तु अद्यावधि उपलब्ध सूचनाओ की उपेक्षा कर जब कुछ विद्वान उन्हें 'कृतित्व स हीन' कहते हैं तब सखेद आश्चर्य होता है। इस लेख मे चिंतामणि कृत 'भाषापिंगल' के सदर्भ म आने वाली कुछ भ्रातियो का निराकरण करने का प्रयास किया गया है।

हिंदी साहित्य के इतिहासो तथा अन्य ग्रथो मे चिंतामणि कृत 'भाषापिंगल' ग्रथ का उल्लेख छद विचार छदोविचार, छद विचार पिंगल, छदोलता, पिंगल, भाषापिंगल आदि विभिन्न नामो से किया गया है। कुछ विचारक 'छद विचार' और पिंगल दो स्वतत्र ग्रथ मानते हैं। वस्तुत चिंतामणि द्वारा छन्द शास्त्र पर लिखा हुआ एक ही ग्रथ प्राप्त होता है जो उपयुक्त विभिन्न नामो से परिचित किया गया है। अन्तर्साक्ष्य के आधार पर यह स्पष्ट होता है कि इसका वास्तविक नाम भाषापिंगल ही है। देखिए—

> चिंतामनि कवि को हुकम कियो साहि मकरद।
> करौ सद्य लच्छन सहित 'भाषा पिंगल' छद॥

इस ग्रथ के प्रारभ म भी लिखा है कि 'अथ भाषा पिंगल चिंतामनि कवि कृत लिख्यते। अत यह भी स्पष्ट हो जाता है कि लिपिकार भी इस ग्रथ का नाम भाषापिंगल ही समझता था। चिंतामणि ने 'कविकुलकल्पतरु' के अन्तर्गत भी इस ग्रथ का उल्लेख

'छद विचार' न कर 'पिंगल ही किया है। अत यह निश्चित होता है कि इस ग्रन्थ का वास्तविक नाम 'भाषापिंगल ही है और लिपिकारो ने ही इसमे छद विवेचन देख कर छद विचार, छदोलता, आदि नाम दिये हैं।

डा० शिवसिह सेंगर ने 'सरोज' म इस ग्रथ का उल्लेख करते हुए लिखा है कि चितामणि बहुत दिनो तक नागपुर के सूयवशी भोसला राजा मकरदशाह के यहाँ रहे और उन्ही की आज्ञानुसार इन्होने अपने 'पिंगल' ग्रथ की रचना की। तब स हिंदी साहित्य के लगभग सभी इतिहासो तथा अन्य ग्रथो म, 'हिंदी साहित्य का बृहत इतिहास' जसे अद्यावधि ग्रथ म भी शिवसिह सेंगर की बात ही स्वीकृत की गयी है और समथन म उन्ही के द्वारा लिखित निम्नलिखित छन्द भी दिया गया है—

सूरजबसी भोंसला, लसत साह मकरद।
महाराज दिगपाल जिमि भाल समुद सुभचद॥

यही छद 'भाषा पिंगल की हस्तलिखित प्रतियो म इस प्रकार मिलता है—

सूरजवसी भूसिला लसतु साहि मकरद।
महाराज दिग्पाल जिमि माल समुद सुव चद॥[१]

इससे स्पष्ट होता है कि उपयु क्त दोनो छदो मे मूल हस्तलिखित प्रतियो म प्राप्त छद ही अधिक समीचीन है। भाल समुद सुभ चद की अपेक्षा 'माल समुद सुव चद' अधिक सुस्पष्ट एव अथ गर्भित है। मूल प्रति के छद के अनुसार इसका अथ होगा कि सूयवश के महाराज दिग्पाल साहि मकरद भोसला अपने पिता मालोजी रूपी समुद्र के पुत्र चद्रमा के समान शोभित होते हैं। जान पडता है कि यह ग्रथ अपने समय म तथा उसके पश्चात भी बहुत लोकप्रिय रहा होगा। शिवसिह सेंगर, आचाय रामचद्र शुक्ल जसे विद्वान इतिहासकारो ने इस ग्रथ का वणन करते समय 'बहुत भारी इस विशेषण का प्रयोग किया है जो ग्रथ की महत्ता एव लोकप्रियता का द्योतक है। चितामणि के इस ग्रथ की हस्तलिखित प्रतियाँ लगभग सभी प्रमुख हस्तलिखित सग्रहालयो मे उपलब्ध होती हैं। काशी, प्रयाग, बडोदा, रीवा, जयपुर, हैदराबाद, से लेकर सुदूर तजावर तक के सग्रहालयो मे इसकी प्रतियाँ प्राप्त होती हैं। विशेष उल्लेखनीय बात यह है कि हैदराबाद की स्टेट लायब्रेरी म जहाँ लगभग बारह सौ हिंदी हस्तलिखित ग्रथ उदू लिपि मे सुरक्षित हैं उनम चितामणि कृत भाषापिंगल भी समाविष्ट है। गुलाम अली खाँ ने 'भाषापिंगल का उदू रूपान्तर किया है।[२] उपलब्ध प्रतियों म तजावर की हस्तलिखित प्रति अतिजीण अवस्था मे एव अधिक प्राचीन प्रतीत होती है।

भाषापिंगल के किसी भी छन्द मे नागपुर के मकरदशाह भोसले का उल्लेख नही मिलता। इतिहासों म नागपुर के भोसला राजाओ की परम्परा मे 'मकरन्दशाह'

---

१ भाषापिंगल (हस्तलिखित प्रति), काशी नागरी प्रचारिणि सभा, स० २।२३

२ स्टेट लायब्रेरी हैदराबाद (दक्षिण) हस्तलिखित सग्रह, ज० क्रमाक ३२९

का नामोल्लेख तक नहीं है। चिंतामणि के समय यह प्रांत मराठा के अधिकार में भी नहीं था। सन १७०७ के लगभग मराठों का वास्तव में प्रवेश इस प्रदेश में हुआ।[1] ऐसी स्थिति में ज्ञात नहीं होता कि 'सरोज' कार ने 'साहि-मकरंद' को किस आधार पर नागपुर के मकरंदशाह भोंसला कहा है। सम्भवत 'शिवसिंह सरोज' के आधार पर ही परवर्ती लगभग सभी साहित्य के इतिहासकारों ने इसी परम्परागत बात को स्वीकार किया है। पं० भगीरथप्रसाद दीक्षित जी ने तो इस भ्रममूलक बात को अधिक स्थिर बनाकर उसके अनुसार 'पिंगल ग्रन्थ का रचनाकाल संवत १७०० अर्थात सन् १६४३ के लगभग न मानते हुए संवत् १७७९ अर्थात् सन् १७२२ के लगभग मान लिया है।[2]

इस परम्परागत भ्रममूलक बात को सर्वप्रथम पं० कृष्ण बिहारी मिश्रजी ने अस्वीकार करते हुए लिखा कि चिंतामणि के 'भाषापिंगल' में शिवाजी के पितामह मकरंदशाह और उनके पिता शहाजी की प्रशंसा है।[3] इसमें उन्होंने 'साहि मकरंद' को शिवाजी के पितामह अर्थात मालोजी माना है। सम्भवत इन्हीं के कथन के आधार पर डॉ० भगीरथ मिश्रजी[4] तथा डॉ० किशोरीलाल गुप्तजी[5] ने 'साहि मकरंद' को शिवाजी के पितामह मालोजी अर्थात माल मकरंद मान लिया है जिनके आश्रय में चिंतामणि ने 'भाषापिंगल' ग्रंथ की रचना की थी। पं० भगीरथप्रसाद दीक्षित जी ने भी अपने भूषण विमर्श की द्वितीयावृत्ति में 'साहि मकरंद' को शिवाजी के पितामह मकरंदशाह मान लिया है।[6]

वास्तव में ये 'साहि-मकरंद' शिवाजी के पितामह मालोजी न होकर उनके पिता शहाजी भोंसले ही थे जिनकी आज्ञा से चिंतामणि ने भाषापिंगल ग्रंथ की रचना की थी। अन्तर्साक्ष्य तथा बहिर्साक्ष्य दोनों सामग्रियों के आधार पर यह सिद्ध हो जाता है कि 'साहि मकरंद' अर्थात् 'मकरंदशाह' छत्रपति शिवाजी महाराज के पिता शहाजी ही थे। भूषण कवि ने शिवाजी के पिता मालोजी के लिए 'माल मकरंद' तथा शिवाजी के लिए 'सिवसरजा मकरंद' शब्दों का प्रयोग किया है।

१ महावीर ता बंस में भयो एक अवनीस।
लियो बिरद सीसोदिया दियो ईस को सीस॥

---

१ नागपूरचा सांस्कृतिक इतिहास—दे० गो० लाडगे (सन १९५४ ई०) पृ० १
२ भूषण विमर्श—पं० भगीरथ प्रसाद दीक्षित (द्वितीय आवृत्ति), पृ० ३०
३ मतिराम ग्रंथावली—पं० कृष्ण बिहारी मिश्र (संवत् १९९१), पृ० २२३
४ शृंगार मंजरी—सम्पादक डा० भगीरथ मिश्र (सन १९५६ ई०), पृ० १७
५ ग्रियर्सन कृत हिंदी साहित्य का प्रथम इतिहास—हिं० अनुवादक डा० किशोरीलाल गुप्त (सन १९५७ ई०), पृ० १५६
६ भूषण विमर्श—पं० भगीरथ प्रसाद दीक्षित (द्वितीयावृत्ति), पृष्ठ ३०

ता कुल में नृपवृद सब उपजे बखत बुलद ।
भूमिपाल तिन में भयो बडो 'माल मकरद ॥'[1]

२ सूर सिरोमनि सूर कुल सिव सरजा मकरद ।
भयो जोन सिवराज सों अब अथक अग्ररग ।[2]

जब 'माल मकरद' मालोजी हैं, सिव-सरजा मकरद' शिवाजी हैं तब स्पष्ट हो जाता है कि 'साहि मकरद शहाजी ही हैं। शहाजी के आश्रित कवि जयराम पिंड्ये कृत 'राधामाधव विलास चपू म भी शहाजी के लिए 'साहि मकरद' शब्द का प्रयोग किया गया है—

देखियत ननननि सोधि यन बोलतु है
सुनो 'साहि मकरद' जतक्ल रत की ।[3]

शहाजी के आश्रित सस्कृत कवि तथा सगीतज्ञ वेद कवि ने सन १६५० ई० म 'सगीत मकरद' नामक सस्कृत ग्रथ की रचना की थी। यह सपूण ग्रथ तजौर के सरस्वती महल ग्रथालय मे सुरक्षित ह। इसम भी शहाजी के लिए मकरद शाह तथा 'साहिमकरन्द दोनो शब्दो का प्रयोग किया है।

मरवर 'मकरद शाह' गुजन्मधुकर मगल मत्र पाठपूवम ।[4]

इस प्रकार चितामणि के समकालीन कवियो के उपयुक्त उदाहरणो से तो यह स्पष्ट ही हो जाता है कि साहि मकरद और कोई न थे बल्कि शिवाजी के पिता शहाजी ही थे जिनके आश्रय म यह 'भाषा पिंगल' लिखा गया था। बहिसाक्ष्य सामग्री के समान ही अतर्साक्ष्य सामग्री से तो यह बात अधिक ही सुस्पष्ट हो जाती है। 'भाषा पिंगल को प्रारभ से अत तक पढने पर यह ज्ञात हो जाता है कि सपूण ग्रथ म शहाजी की ही प्रशसा है और उनके लिए कवि ने साहि मकरद, साहिनपति, साहि महीपति, साहिजी, साहिसुमान माल मकरद नद सरजा आदि सबोधनो के प्रयोग किये हैं। इसी ग्रथ के उत्तराध के लगभग अत म जो छद है वह तो इस बात को अत्यत सुस्पष्ट कर देता है—

माल मकरद नद सरजा बिलद सोहै
आलम सराहै याको ओज औ उदरतौ ॥

---

१ भूषण ग्रथावली—सपादक मिश्र बधु (सवत २०१५), पृष्ठ २

२ वही, पृष्ठ ४९

३ राधामाधव विलास चपू—जयराम पिंड्ये, सम्पादक वि० का० राजवाडे (शक १८४४) पृ० ३५६

४ वेद कवि कृत सगीत मकरद' (हस्तलिखित प्रति), सरस्वती महल ग्रथालय तजौर न० १०७२४ (दानवणन)

आसाम तिलोग तहा दिग्गज निहू के
नाह साहि ?र नाहन तौ दिग्गज व डारतौ ॥[1]

'माल मकरंद' शिवाजी के पिता मल्लजी अथवा मालोजी माने जाते हैं अत 'माल-मकरंद नंद' का अर्थ अत्यत स्पष्ट हो जाता है कि वे मालोजी के पुत्र शाहाजी ही हैं। इस प्रकार बहिर्साक्ष्य तथा अन्तर्साक्ष्य के आधार पर यह निश्चित हो जाता है कि चिंतामणि ने 'भाषापिंगल' ग्रथ की रचना जिनकी आज्ञा से की वे न तो शिवाजी के पितामह मालोजी थे न नागपुर के 'मकरद शाह' भोसला बल्कि वे थे शिवाजी के पिता तथा मालोजी के पुत्र शाहाजी।

जब यह सिद्ध हुआ कि चिंतामणि ने 'भाषापिंगल' की रचना शिवाजी के पिता शाहाजी की आज्ञा से उन्ही के आश्रय मे की तब यह भी निश्चित हो जाता है कि उक्त ग्रथ का रचना काल भी शाहाजी की मृत्यु के पूर्व अर्थात २३ जनवरी, १६६४ के[2] पूर्व होना चाहिये। प० भगीरथ प्रसाद दीक्षितजी ने 'भाषापिंगल' का निर्माण काल सवत १७७९ अर्थात सन् १७२२ ई० मान लिया है और वह भी इन्होंने नारनौल राज्य पटियाला म प्राप्त चिंतामणिकृत पिंगल की एक पक्ति के आधार पर निश्चित किया है, जो पक्ति अन्य स्थलो म प्राप्त भाषापिंगल की प्रतियो म कभी ही नही मिलती। वह पक्ति इस प्रकार है—

बहुत अक मनि द्वीप है आनि बराबर लेहु

प्रथम उन्होने इसी पक्ति के आधार पर 'पिंगल' का निर्माण काल-सवत् १७९७ मान लिया था, जब वे मकरदशाह या साहि मकरद को नागपुर के भोसला राजा मानने के पक्ष मे थे।[3] इस कथन के लगभग चौबीस वर्ष पश्चात भूषण विमर्श की द्वितीयावृत्ति मे, जो सन १९५० म प्रकाशित हुई उन्होने 'साहि मकरद' को नागपुर के मकरदशाह भोसला न मानकर शिवाजी के पितामह माना और उसके अनुसार निर्माणकाल को भी सवत १७९७ के स्थान पर सवत १७७९ मान लिया। इस प्रकार देखा जा सकता है कि उपयुक्त पक्ति का अपनी सुविधा के अनुसार अर्थ लगाकर पिंगल का रचनाकाल स्थिर करने का उन्होने प्रयत्न किया है। चूकि सबसे प्रथम उन्होने ही भाषापिंगल की रचना-काल-सूचक उपयुक्त पक्ति के मिलने तथा उचित होने की बात उठायी थी। तब उनके लिए यह उचित न लगा होगा कि अन्य प्रतियों में प्राप्त पक्ति को स्वीकार कर लें। अत अपनी पूर्वोक्त स्थापना को स्थिर बनाने के उद्देश्य से उन्होने यह कल्पना कर ली कि जिस प्रकार शिवाजी की प्रशसा मे भूषण

---

१ चिंतामणिकृत भाषापिंगल (हस्तलिखित प्रति), ओरिएण्टल इस्टिट्यूट, बडौदा, सी० ४५९५

२ शिवकालीन पत्रसार सग्रह खड ३—सपादक ग०ना० जोशी (सन १९३७ ई०), पृष्ठ १८४

३ 'माधुरी' पत्रिका, १९ अप्रैल, १९२६ पृष्ठ ३६०

ने 'शिवराज भूषण' उनके मरने के पीछे सं० १७७३ वि० में रचा था, उसी प्रकार चिंतामणि ने इस पिंगल ग्रंथ की रचना शिवाजी के पितामह मकरंदशाह के लिए संवत १७७६ वि० में की थी।[1] अतः पंडित भगीरथ प्रसाद दीक्षित जी के विचारों में किसी प्रकार की स्थिरता न होने तथा ऐतिहासिक सत्य का अभाव होने से उसे स्वीकार नहीं किया जा सकता।

शहाजी के आश्रित कवि जयराम पिंड्ये ने चिंतामणि का उल्लेख अपने 'राधामाधव विलास चंपू' में किया है।[2] स्वयं चिंतामणि ने 'भाषापिंगल' में स्पष्ट लिखा है कि—

चिंतामनि कवि को हुकम कियो साहि-मकरंद।
करौं लच्छ लच्छन सहित भाषा पिंगल छंद॥
साहि नृपति के हुकमतें यो मति कौ परगास।
तनतु कौ रवि के उदै अंधकार कौ नास॥[3]

'भाषापिंगल' में प्रयुक्त वर्तमानकालीन क्रियाएँ आशीर्वादात्मक वचन आदि सभी बातों से यह सुस्पष्ट हो जाता है कि यह ग्रंथ चिंतामणि ने शहाजी के आश्रय में २३ जनवरी १६६४ के पूर्व अर्थात उनकी मृत्यु के पहले लिखा था। भाषापिंगल के प्रारंभिक दस छंदों के अंतर्गत एक छंद मिलता है जिसे पिंगल के निर्माण काल का सूचक माना जाता है—

कहि कवि मनि अरु दीप द्व जानि बराबरि लेहु।
शुभ प्रकास तब करत जब पावन पूरन नेहु॥—भाषापिंगल छंद ८

यही छंद अधिकांश हस्तलिखित प्राप्त प्रतियों में मिलता है। यदि इस छंद का निर्माण-काल सूचक दोहा मान लिया जाए तो कहना न होगा कि इसका पूर्वार्ध ही सूचनात्मक दिखायी देता है। संकेत कोश[4] के अनुसार इस दोहार्द्ध में लिखित निर्माण काल (कवि=१ मनि=७ और द्विप द्व=१४=१७१४) संवत १७१४ अर्थात सन १६७७ ई० ठहर जाता है। शहाजी के आश्रित कवि जयराम पिंड्ये ने 'राधा माधव विलास चंपू' की रचना शहाजी के आश्रय में शके १५८० अर्थात सन् १६५८ ई० के लगभग पूर्ण की थी।[5] जयराम कवि ने अपने ग्रंथ में चिंतामणि का उल्लेख भी

---

१ भूषण विमर्श—पं० भगीरथ प्रसाद दीक्षित पृष्ठ ३०
२ राधामाधवविलासचंपू पृष्ठ २७५ तथा भूषण—पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृष्ठ ८८
३ चिंतामणिकृत भाषापिंगल (हस्तलिखित प्रति), नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, छंद ८
४ संकेत कोश—प्रो० डा० हणमते (प्रथम सं०) पृष्ठ ११४
५ राधामाधवविलासचंपू, पृष्ठ ४

किया है। सन १६५३ से सन १६६४ तक का काल शहाजी महाराज के जीवन का वैभव-सपन्न काल था। बगलोर की जागीर मे एक स्वतन्त्र राजा के समान शहाजी का ऐश्वर्य था। दूर दूर के कवि, पडित, उनके दरबार में पहुँचते थे और पुरस्कार प्राप्त कर लेते थे। शहाजी अनेक भाषाओ के अच्छे ज्ञाता तथा रसिक और गुणग्राहक होने से उस समय उनके दरबार मे विभिन्न भाषाओं के दूरस्थ कवियो तथा पडितो का सदैव आवागमन रहता था। जयराम कवि ने अपने 'चपू' में ऐसे लगभग ७० नामो का उल्लेख किया है। अत अनेक दृष्टियो से पिंगल का रचनाकाल सवत १७१४ अर्थात् सन १६५७ ही समीचीन लगता है।

'भाषा पिंगल' की उपलब्ध हस्तलिखित प्रतियो मे तजौर के सरस्वती महल ग्रथालय की हस्तलिखित प्रति अतिजीर्ण एव प्राचीन प्रतीत होती है। इस हस्तलिखित प्रति मे भी उपयुक्त छद तो मिलता ही है परतु अत मे भी एक ग्रथ समाप्ति का सूचक छद इस प्रकार मिलता है—

सवत सहस बरष बीतो जब उनईस।
पाच वदि बसाष की रच्यो ग्रन्थ अवलीस॥[1]

इस छद के अनुसार इस ग्रथ का समाप्ति काल सवत १७१९ की वसाख मास की वदि पचमी हो जाता है अर्थात सन् १६६२ के लगभग यह समय आ जाता है। अत यह निश्चित हो जाता है कि भाषापिंगल के पूर्वार्ध मे पाया जाने वाला सवत सूचक छद ग्रथ का प्रारभ-काल सूचक छद है न कि समाप्ति सूचक। अत यह स्पष्ट हो जाता है कि पिंगल' का प्रारभ सवत १७१४ अर्थात सन १६५७ को हुआ और उसकी समाप्ति सवत १७१९ की बैसाखमास की वदि पचमी को हुई थी। शिवसिंह सरोजादि ग्रथो मे चिंतामणि के 'साहि मकरद' के यहाँ 'बहुत दिन तक' रहने की बात जो लिखी है उससे इस बात की पुष्टि ही हो जाती है।

१ चिंतामणि कृत छदोविचार (हस्तलिखित प्रति) तजौर टी० एम० एस० न० बी ५३६८

२ | चिंतामणि त्रिपाठी के दो अज्ञात ग्रंथ 'रसविलास' और 'श्रीकृष्ण चरित्र'

आचार्य चिन्तामणि त्रिपाठी द्वारा विरचित ग्रंथों में से केवल एकमात्र ग्रंथ कविकुलकल्पतरु संवत् १८७५ में नवलकिशोर प्रेस लखनऊ से प्रकाशित हुआ था। दुर्भाग्य से उसकी मुद्रित प्रति भी सुलभता से आज प्राप्त नहीं हो सकती है। 'शिवसिंह-सरोज' में चिन्तामणि विरचित कविकुलकल्पतरु, छन्दविचार पिंगल, काव्य प्रकाश, काव्य विवेक तथा रामायण नामक पाँच ग्रंथों का उल्लेख किया गया है। ठाकुर शिवसिंह सेंगर ने केवल सुनी सुनाई बातों के आधार पर यह सूचना नहीं दी वरन् ये समस्त ग्रंथ उनके निजी पुस्तकालय में उपलब्ध थे। इनमें से कविकुलकल्पतरु तथा भाषापिंगल (छन्दविचार पिंगल) आज भी पुस्तकालयों में उपलब्ध होते हैं। इनके अतिरिक्त चिन्तामणिकृत 'कविताविचार' तथा 'रामाश्वमेध' नामक ग्रंथ भी हस्तलिखित रूप में प्राप्य हैं। डॉ० भगीरथ मिश्रजी चिन्तामणि द्वारा ब्रजभाषा रूपान्तरित 'शृंगार मंजरी' भी प्रकाश में ला चुके हैं। खोज में चिन्तामणि त्रिपाठी के ऐसे दो महत्वपूर्ण ग्रंथ उपलब्ध हुए हैं जिनका उल्लेख अब उनके पूर्व किसी ग्रंथ में नहीं मिलता। ये ग्रंथ हैं 'रसविलास' और 'श्रीकृष्णचरित्र' जिनका संक्षिप्त परिचय मात्र यहाँ दे रहा हूँ।

रस विलास

इस ग्रंथ की दो पाण्डुलिपियाँ बीकानेर के अनूप संस्कृत पुस्तकालय में उपलब्ध हैं। एक प्रति खंडित एवं अपूर्ण है और दूसरी प्रति लगभग सम्पूर्ण एवं व्यवस्थित है परन्तु इसका अंतिम पृष्ठ खंडित है। इस प्रति के मुखपृष्ठ पर मोटे अक्षरों में लिखा है— 'रसविलास भाषा' ग्रंथ में स्वयं कवि ने सर्वत्र 'रसविलास' शब्द का ही प्रयोग किया है। देशी कागज पर लिखित ग्रंथ पढ़ते समय लिपिकार की असावधानी का अनुभव अवश्य ही हो जाता है। प्रतिलिपि बनाते समय कतिपय स्थलों पर शब्दों तथा वाक्यांशों को भी छोड़ दिया गया है। ग्रंथ का प्रारम्भ इस प्रकार है—

पूजि भवानी चरण जुग करि निज शरण गनेस।
चिंतामनि कवि कहत है रसविलास सुखवेस ॥१॥

तो मैं रसु कासो कहत इह आसका पाई।
निज मति के अनुहारि हों कहत सुरस चितु लाई ।।२।।

इस ग्रंथ में सर्वत्र चिन्तामणि की उसी प्रकार छाप मिलती है जैसे उनके अन्य ग्रंथों में प्राप्त होती है। रसविलास के प्रत्येक परिच्छेद की समाप्ति पर लिखित पुष्पिका भी उनके अन्य ग्रंथों की भांति ही है। उदाहरण के लिए प्रथम तथा द्वितीय परिच्छेद की पुष्पिकाएँ द्रष्टव्य है—

इतिश्रीमच्चिंतामणिकृते रसविलासे प्रथम परिच्छेद ।
इतिश्रीमच्चिंतामणिकृते रसविलासे आलम्बनविभावनिरूपणे
नायक वर्णनानाम् द्वितीय परिच्छेद ।

रचनाकाल

कविकुलकल्पतरु, शृगार मंजिरी, कृष्णचरित्र आदि ग्रंथों की भांति चिंतामणि ने इस ग्रंथ में भी रचनाकाल के सम्बन्ध में कुछ नहीं लिखा है। रसविलास के अंतर्गत शाहजहाँ, दाराशिकोह, हृदयशाह, जाफरखान तथा जनदी मुहम्मद की प्रशस्ति के जो छंद मिलते हैं। उनके आधार पर ग्रंथ का रचनाकाल अनुमानतः निश्चित किया जा सकता है। उदाहरण के लिए आश्रयदाताओं की प्रशस्ति विषयक निम्नलिखित पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

साहिजहा जू के हाथी अरिदल के प्रमाथी
गिरिन के साथी सोह पारत थलक मैं ।।

× × ×

दारा साहि तच्छन सो देत दान लच्छन सो
जगत के रच्छन विचच्छन विसेखिए ।।

× × ×

प्रेमसाहि जू के नंद महाराजा हृदसाहि
मिरो अगहारी बीर सगर को आकरो ।।

× × ×

एसो को आलिन बीर जहान जो जाफरखान सो जग जुर ।
जाफरखान नवाब कस्यो खग्ग महि रणमग्ग ।।

× × ×

लोचन है लाल ला जनदी मुहम्मद जू।
अब कहो कहा कहा चोहि चोहि लीजिए ।।

इन उदाहरणों में प्रयुक्त वर्तमानकालीन क्रियाओं तथा प्रशस्तियों से स्पष्ट होता है कि रसविलास की रचना शाहजहाँ, दाराशिकोह हृदयशाह, जाफरखान एवम् जनदी मुहम्मद के जीवनकाल में हुई थी। इनमें से शाहजहाँ का शासनकाल संवत्

१६८४ वि० से १७१४ वि० तक था।[१] शाहजहाँ के पुत्र दाराशिकोह की मृत्यु सन १६५९ ई० अर्थात् सवत् १७१६ वि० मे हुई।[२] प्रेमशाह के सुपुत्र हृदयशाह अपनी सत्तर वष की अवस्था मे सवत् १७३५ वि० मे परलोक सिधारे।[३] इतिहास से ज्ञात होता है कि जाफरखान की मृत्यु सन् १६७० ई० अर्थात सवत १७२७ वि० म हुई थी।[४] जैनदी मुहम्मद मनसबदार के पद पर सवत १६६० वि० में नियुक्त हुआ था।[५] अत यह स्पष्ट है कि इन सभी लोगो का समय सवत १६८४ वि० से लेकर सवत १७३५ वि० तक हो जाता है। इतनी दीघ कालावधि मे इस ग्रथ का रचनाकाल निश्चित करना अपने आप मे कठिन प्रतीत होता है।

इन आश्रयदाताओ के समय का विचार करने पर जनदी मुहम्मद ही एक व्यक्ति दिखायी देते हैं कि जिनकी नियुक्ति सबसे बाद म अर्थात सवत १६६० वि० म हुई है। शेष सभी का समय तो इनके पूव से ही आरम्भ होता है। 'चितामणिकृत भाषापिंगल का रचनाकाल' के प्रसग मे इम बात की चर्चा की गयी ह कि सवत १७१४ अर्थात सन १६५७ ई० म चिन्तामणि शहाजी भोसला के दरबार म पहुँचे थ। अत इससे भी यह स्पष्ट हो जाता है कि रसविलास की रचना सवत १७१४ वि० के पूव ही हुई थी। शाहजहाँ के दरबारी कवियो म चितामणि का उल्लेख तो इतिहासो मे मिलता है[६] परन्तु कही भी इस बात को नही लिखा गया कि चितामणि शाहजहाँ के आश्रय म किस समय से किस समय तक थे। अत रचना की निश्चित तिथि का निर्धारण करना अधिक ही कठिन है। उपयुक्त विवचन से इतना तो स्पष्ट होता ह कि रसविलास की रचना सवत १६७० वि० और सवत १७१४ वि० के बीच हुई थी।

विषय वस्तु

ग्रथ के नाम से ही स्पष्ट हो जाता है कि इसम रस चचा प्रमुख रूप स की गयी है। 'रसविलास' के कुल मिलाकर आठ प्रकरण हैं। प्रकरण के लिए कवि ने 'परिच्छेद' कहा है। प्रथम परिच्छेद के अतगत मगलाचरण के उपरात रस विभावादि का वणन किया गया है। द्वितीय परिच्छेद म नायक निरूपण के प्रसग मे धीर ललित धीर शात, धीरोद्धत एवम धीरोदात्त—इन चार भेदो के साथ शृगारीनायक के अनुकूल दक्षिण शठ और धृष्ठ इन भेदा का भी वणन है। यही पर पति, उपपति के भेद निरूपण

१ कैंब्रिज हिस्ट्री आव इण्डिया, भाग ४ (सन १९५७ का सस्करण), पष्ठ ६१९
२ दाराशिकोह—डा० कालिकारजन कानूनगो (सन १९५८ ई०), पृ० ११३
३ गोरेलाल तिवारीकृत बुदेलखड का इतिहास सवत १९९० का सस्करण, पृ० १०६
४ जदुनाथ सरकारकृत औरगजेब' भाग ३ सन १९१६ का अग्रेजी सस्करण, पृष्ठ ७९
५ व्रजरत्नदास द्वारा किया हुआ 'मआसिर-उल उमरा' का हिन्दी अनुवाद 'मुगल दरबार' प्रथम सस्करण भा ३ पृष्ठ ३४४
६ कैंब्रिज हिस्ट्री आव इण्डिया, भा० ४, पृष्ठ २२१

के साथ ही प्रोषित पति के प्रोषित उपपति एवं वैनिक प्रोषितपति—ये दो उपभेद तथा नायक के सहायक—पीठमर्द, विट एवं विदूषक के भी लक्षण और उदाहरण दिये हैं। तृतीय परिच्छेद के अंतर्गत नायिका के पद्मिनी, चित्रिणी, हस्तिनी एवं शंखिनी इन चार भेदों के अतिरिक्त नायिका के स्वकीया, परकीया और सामान्या ये तीन भेद भी दिये हैं। यह परिच्छेद 'नाट्यशास्त्रम्' 'दशरूपक', एवं 'रस तरंगिणी' के आधार पर लिखा गया है। नायिकाओं के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए जो उदाहरण दिये गए हैं वे अत्यन्त कवित्वपूर्ण हैं। लक्षणों के पश्चात् उनके स्वरूप को समीचीन उदाहरणों से स्पष्ट करने का प्रशंसनीय प्रयास किया गया है। नायिका की अवस्थानुसार स्वाधीन-पतिका वासकसज्जा आदि सात भेद दिये हैं।

चतुर्थ परिच्छेद के अंतर्गत उद्दीपन विभाव में रम्य देश, वापी तड़ाग, नगर, महल, वन, बाग, शैल, रम्य-समय (वसंतादि षड्ऋतु) का वर्णन किया गया है जिसमें बारहमासा वर्णन को भी स्थान दिया है। पंचम परिच्छेद में अनुभावों का वर्णन भरत के 'नाट्यशास्त्र' के आधार पर किया है। षष्ठ परिच्छेद में सात्विक भावों का वर्णन है और सप्तम में संचारी भावों का वर्णन जो भरत, धनंजय और विश्वनाथ के आधार पर किया गया है। अष्टम परिच्छेद के अंतर्गत सभी रसों के लक्षण प्रस्तुत करने के बाद नखशिख वर्णन किया है। अंत में अपने आश्रयदाताओं की विरुदावली का सविस्तार वर्णन कर ग्रंथ को समाप्त किया है।

उदाहरण के लिए रसविलास के कुछ छंद उद्धृत कर रहा हूँ जिसमें रसविलास के काव्य-सौंदर्य की कल्पना सहजता से की जा सकेगी। रूपवर्णन की नखशिख परंपरा में 'ललाट' का यह वर्णन देखिए—

मन महिपाल हू की सुबरन रंगभूमि
सुन्दर सोहित सो न याकी समता लहै॥
ए री ब्रजबाल ऐसे हाल अब रेयति म
न्देखत हि हाल नन्दलाल मो निहाल है॥
लाल सो मिलित हेम समय यह देखि कैसे
कह्यो जात अनमद कौन सुखमा लहै॥
कयो सूल साल लग्यो सालि उरि सूल सात
प्यारो तेरो भाल अधर खड़ चंद भाल है॥ ८।१४

इसी प्रकार सोलह शृंगारों से सुसज्जित सुंदरी का यह चित्र भी अत्यंत विलोभनीय एवं कवि की सूक्ष्म निरीक्षण दृष्टि का परिचायक है—

मनि मज्जन कै पहिरो पट झीनो दियो अखियान में अंजन लीको॥
मुकताहल नासिका बनी बनी मनि नूपुर को सुर हारक ही को॥
तन चंदन लेप कसो अंगिया कल किंकिनि रोच बनो मुखनीको॥
कंकन गारो के खाए लस लियो चोरि के जावकता चित पीको ४।३१॥

पर्याप्त सम्मान एव पुरस्कार पाकर चिंतामणि अपने घर लौटे होंगे। उस समय उनकी अवस्था लगभग ७१ ७२ वर्षों की थी। सभव ह कि उसके बाद चिंतामणि वृद्धावस्था के कारण किसी के आश्रय म नहीं गय होगे। इसके बाद चिंतामणि का किसी क आश्रय म जाने का उल्लेख भी नही मिलता। अत यह अधिक सभव जान पडता है कि घर आने पर ही चिंतामणि कृष्णचरित्र जसी भक्तिपरक रचना करने म सलग्न रहे होंगे। ग्रथ का विशाल कलेवर और कवि की वृद्धावस्था के हिसाब से इसकी रचना के लिए तीन चार वर्षों का कालावधि सहज ही लगा होगा। अत अनुमानत इस ग्रथ की रचना सवत १७३२ क आसपास हुई होगी।

विषय वस्तु

यह ग्रन्थ बारह सर्गों मे विभाजित है। प्रथम सग के अतगत मगलाचरण, कृष्णजन्म, कृष्ण का अलौकिक सौंदय दशन, वसुदेव का कृष्ण को गोकुल ले जाना, कृष्ण की कृपा से समस्त बाधाओ का निवारण, गोकुल पहुँचकर कृष्ण को नद के यहाँ रखना और उनकी नवजात कन्या को मथुरा लाना, देवकी की प्रसूति की वार्ता सुनते ही कस का देवकी के पास आना और उस कन्या को छीनकर पत्थर पर पटकने के लिए उद्यत होना, परन्तु उस कन्या का हाथ से छूट जाना और आकाशवाणी द्वारा कृष्ण के जन्म तथा सुरक्षित होने की सूचना देना, सुनकर कस का व्याकुल होना और वसुदेव देवकी को बधन मुक्त करना, इधर नद गह म पुत्र जन्मोत्सव की सवत्र प्रसन्नता, यशोदा के भाग्य की सराहना, कृष्ण की क्रीडाए पूतनावध आदि का सविस्तार वणन किया गया है।

द्वितीय सग म प्रारभिक छदो मे वात्सल्य का वणन है। कृष्ण की बाल लीलाओ का उत्कृष्ट वणन परपरा के अनुसार ही किया गया है। कृष्ण द्वारा बाल्यावस्था मे किये गये वीर-कर्मों का वणन भी इसी सग के अतगत किया गया है। ततीय सग के अतगत कृष्ण-सौंदय का वणन भक्तिभाव की अभिव्यक्ति, कृष्ण के अनत गुण तथा उसका महत्व, कृष्ण की वशी का माधुय तथा उसका ब्रजयुवतियों पर प्रभाव, आदि बातो का विवरण किया है। चतुथ सग मे कृष्ण के युवक होने की सूचना मिलती है। गोप और गोपियों के साथ कृष्ण की लीलाओ का वणन किया गया है। कृष्ण का एक असुर को मारना, गोपियो का कृष्ण सौंदय पर लुब्ध होकर प्रेम करना तथा मुरली के माधुय का प्रभाव आदि के वणन के बाद इस सग की समाप्ति होती ह। पचम सग के अतगत कालिया दमन तथा बन की प्रचड अग्नि का पान कर ब्रजवासियो को सकटों से मुक्त करने का विस्तत वणन है। इसके बाद कृष्ण के महत्व का प्रतिपादन और कृष्ण एवम गोपियो की लीलाओ के अनतर यह सग समाप्त कर दिया ह।

षष्ठ सग में कृष्ण के प्रति राधा का अनुरक्ति चीर-हरण लीला, कृष्ण द्वारा गोधन धराना तथा कृष्ण के प्रति भक्तिभाव का वणन है। सप्तम सग के अन्तगत

गोवधन पूजा तथा इन्द्र के कोप से व्रजवासियों को बचाने के हेतु गोवधन पवत को कृष्ण द्वारा उँगली पर उठाने आदि का वणन है। अष्टम सग कृष्ण एव राधा के प्रेम वणन से ओतप्रोत है। नवम सग म दोनों के प्रेम-वणन के अतिरिक्त सौन्दय वणन भी किया है। दशम सग मे राधा और कृष्ण की विलास क्रीडाओ का विस्तृत वणन और राधा का वियोग वणन दोनों का समावेश किया गया है। एकादश सग लगभग एसे ही वणनो म युक्त है। विहार वणन के अतिरिक्त सुरत के कुछ चित्र भी इसमे मिलते हैं। द्वादश सग मे अन्तगत कृष्ण का राधा के अतिरिक्त अन्य गोपियो के साथ रमण भी वर्णित है। इसी म भक्ति भाव की महत्ता का वणन कर कवि ने इस ग्रथ को समाप्त किया है। पृष्ठो की परिमित सख्या मे लिखित इस लेख का उद्देश्य चिंतामणि के अज्ञात ग्रथो का परिचय मात्र करा देना है। अत इच्छा होने पर भी श्री कृष्ण चरित्र का विस्तार से विवेचन सभव नही है। फिर भी उदाहरण के लिए दो-तीन छन्द उद्धृत कर देता हूँ जिसमें श्रीकृष्ण चरित्र के काव्यशिल्प तथा सौन्दय का ज्ञान हो सके।

वात्सल्य रस का यह वणन कितना हृदयस्पर्शी है, देखिए—

किंकिनि नूपुर की धुनि यों किलक कर जानुन के बल धाव।
दोऊ जने सित स्याम मनो मनि अगन अगनि की छवि छाव।
रोहनी सग विलोकि जसोमति बाल विनोद महासुख पाव।
औचक अपनी छाँह निहारि डराइ कै माइ समीपहि आव ॥२।१

श्रीकृष्ण की मुरली की ध्वनि सुनकर उससे मिलने की उत्कठा मे अपने बालो को सवारने वाली नायिका की मनोदशा का अत्यत स्वाभाविक चित्र इस छन्द म द्रष्टव्य है—

सुन्दरी बार सवारन कारन बेनी बडी सजनी सों छुटाई।
कानन आनि परी मुरली धुनि कान्ह के देखन को अकुलाई॥
सौरभ फलि रही सब ठौरनि हाय सखी ▪ छुड़ाइ क धाइ॥
चद्रमुखी उलटे भुज कै उचक कुचकै कछु बाँधति आई॥४।५१

श्रीकृष्ण जसे पुत्र की प्राप्ति पर नन्द तथा यशोदा के आनन्द पारावार का यह वणन देखिये—

प्राची सी यशोदा भई परम प्रसन्न रुचि
पहिले परी ही महामोह अधकार मे॥
चिंतामनि कुमुद से फूले साधु जन मत
चारु उतपत्ति कित्ति चद्रिका उदार में॥
गोपी गोप गन दौरे चकोरी चकोर जनु
आनि परे महासुख सुषमा के सार मे॥
उमडयो अपार पुत्र चद्र के उदे ते जाने
नद भयो मगन आनन्द पारावार में॥१।१५

आनन्द हुआ, परन्तु जब कप्तान शूरवीरसिंह ने 'अलंकार प्रकाश' की भूमिका में मुरलीधर कवि भूषण को प्रसिद्ध महाकवि भूषण के रूप में सिद्ध करने का प्रयास किया तब हिन्दी साहित्य के प्रेमियों के मन में उसके प्रति जिज्ञासा तथा उत्सुकता निर्माण होना स्वाभाविक ही है। लेखक ने शूरवीरसिंहजी के अनुमानों तथा धारणाओं की परीक्षा करना आवश्यक समझा। उस दिशा से मुरलीधर कविकृत प्राप्त दोनों ग्रन्थों का अध्ययन करने के उपरान्त यह बात अधिक स्पष्ट होने लगी कि मुरलीधर कवि भूषण हिन्दी के सुप्रसिद्ध वीर रस के कवि भूषण से अभिन्न नहीं है अपितु सर्वथा भिन्न व्यक्ति है। 'अलंकार प्रकाश' में कवि ने अपना परिचय देते हुए लिखा है—

रामकृष्ण कश्यप कुलहि रामेश्वर सुव तासु।
ता सुत मुरलीधर कियो, अलंकार परकासु ॥४३२॥
पाँच सुन्न सत्रह, बरिष, कातिक सुदि छटि जानु।
अलंकार परकास को, कवि कीनो निरमानु ॥४३३॥

संवत १७०५। इतिश्री गहरवार बुन्देलवंश वारिज विकासन मार्तंड राज्य लक्ष्मी रक्षण विचक्षण दोदण्ड महावीराधिवीर राजाधिराज श्री राजा देवीशाहि देव प्रोत्साहित त्रिपाठी रामेश्वरात्मज कवि भूषण मुरलीधर विरचिते अलंकार प्रकाशे अभिधा निरूपणोनाम दसमो उल्लास। समाप्तम।[1]

'छन्दोहृदय प्रकाश' के अन्त में भी मुरलीधर कविभूषण ने अपना परिचय तथा ग्रंथ रचनाकाल इस प्रकार दिया है—

गहवर गुन मण्डल कवि पण्डित रामकृष्ण कश्यप कुल पूषन।
रामेश्वर ता तनय सुकविजा कवि ता नहिन निरखेउ नेक दूषन।
मुरलीधर ता सुअन सुपचम देवीसिंह किअउ कवि भूषन।
छंदोहृदय प्रकाश रच्यो तिन्ह जगमगात जिमि मिहर मयूषन ॥८॥
संवत सत्रह सय बरष तेइस कातक मासु।
पूनव को पूरन भयो छंदोहृदय प्रकासु ॥९॥

इति श्री पौलस्त्यवंश वारिज विकाशन मार्तंड गढ़ा दुर्गाधिराज्य लक्ष्मीरक्षण विचक्षण दोदण्ड चतुर्षष्टिकलाविलासिनी भुजंग महावीराधिवीर राजाधिराज श्री महाराजा हृदयनारायण देव प्रोत्साहित त्रिपाठी रामेश्वरात्मज मुरलीधर कविभूषन विरचिते छंदोहृदय प्रकाशे गद्य विवरण नाम त्रयोदशो उल्लास ॥१३॥ इति श्री पिंगल भूषनकृत भाषा समाप्तम ॥[2]

उपर्युक्त पुष्पिकाओं से स्पष्ट हो जाता है कि उक्त दोनों ग्रन्थों का रचयिता निःसंदेह मुरलीधर कवि ही है। उनके पितामह का नाम रामकृष्ण और पिता का नाम रामेश्वर था। वे काश्यप गोत्रीय त्रिपाठी थे। वे अपने पिता के पाँचवे पुत्र थे और

१ अलंकार प्रकाश—सम्पादक कप्तान शूरवीरसिंह (सन् १९६२), पृ० ८६
२ छंदोहृदय प्रकाश—सं० डॉ० विश्वनाथ प्रसाद, पृ० ९५

देवीसिंह ने इन्हें 'कविभूषण' किया। इन्होंने देवीसिंह अथवा देवीसाह के लिए 'अलंकार प्रकाश' की रचना संवत १७०५ वि० में की और गढ़ा के राजा हृदय-नारायण देव के लिए 'छन्दोहृदय प्रकाश' की रचना संवत १७२३ वि० में।

'शिवराज भूषण' में प्रसिद्ध कवि भूषण ने अपना परिचय देते हुए लिखा है—

देसन-देसन ते गुनी आवत जाचन ताहि।
तिनमे आयो एक कवि भूषन कहियतु जाहि।।
दुज कनौज कुल कस्यपी रतनाकर सुत धीर।
बसत तिविक्रमपुर सदा तरनि तनूजा तीर।।
बीर बिरबल से जहाँ उपजे कवि अरु भूप।
देव बिहारीश्वर जहाँ बिस्वेस्वर तद्रूप।।[1]

इन छन्दों से स्पष्ट होता है कि 'शिवराज भूषण' के रचयिता कवि भूषण काश्यप गोत्रीय कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। उनके पिता का नाम रत्नाकर था और वे यमुनातीरस्थ त्रिविक्रमपुर के वासी थे जहाँ राजा बीरबल जैसे प्रसिद्ध कवि उत्पन्न हुए। यहाँ बिहारीश्वर का मंदिर विद्यमान था। इन्हें चित्रकूटाधिपति हृदयराम-सुत रुद्र ने 'कवि-भूषण' की पदवी दी थी। उन्होंने छत्रपति शिवाजी भोंसले के लिए 'शिवराज भूषण' की रचना संवत १७३० वि० में की थी।[2]

दोनों कवियों के परिचय में समानता केवल एक बात की है कि वे दोनों काश्यप गोत्रीय त्रिपाठी थे और दोनों को 'कवि भूषण' की उपाधि प्राप्त थी। शेष बातों में कहीं भी समानता प्राप्त नहीं होती। यद्यपि मुरलीधर कविभूषण और भूषण दोनों कश्यप गोत्रीय त्रिपाठी हैं फिर भी दोनों के पिता भिन्न हैं। मुरलीधर कवि के पिता का नाम रामेश्वर है तो प्रसिद्ध भूषण कवि के पिता का नाम रतिनाथ उपनाम रत्नाकर है। प्रसिद्ध भूषण कवि जाति से कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे और यमुनातीरस्थ त्रिविक्रमपुर के वासी थे परन्तु मुरलीधर कवि ने 'छन्दोहृदय प्रकाश' तथा 'अलंकार-प्रकाश' दोनों ग्रंथों में कहीं भी अपनी जाति तथा निवासस्थान का उल्लेख नहीं किया है जिससे उनकी जाति तथा निवासस्थान के संबंध में निश्चय-पूर्वक कुछ कहा नहीं जा सकता। मुरलीधर कवि ने अपने पितामह का नाम रामकृष्ण दिया है परन्तु प्रसिद्ध कवि भूषण ने इसका उल्लेख तक नहीं किया।

मुरलीधर कवि को कविभूषण की उपाधि देवीसिंह से प्राप्त हुई थी और प्रसिद्ध भूषण को कवि भूषण की पदवी हृदयराम सोलंकी के पुत्र रुद्र से प्राप्त हुई थी। देवीसिंह गहरवार बुंदेल वंशीय तथा चन्देरी नरेश थे और हृदयराम के पुत्र रुद्र

---

१ भूषण ग्रंथावली—सं० मिश्रबन्धु, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी (सं० २०१५), पृ० ८, छंद २५, २६ २७

२ संपूर्ण भूषण—भारत इतिहास संशोधन मण्डल, पूना (सन १९३०), पृ० १३४, छंद ३८०

सोलकी वशीय तथा चित्रकूट नरेश थे। मुरलीधर को कवि भूषण यह उपाधि सवत १७०५ वि० के आसपास या पूर्व दी थी[1] तो प्रसिद्ध भूषण कवि को 'कविभूषण' की उपाधि सवत् १७२३ वि० मे लगभग प्राप्त हुई थी।[2] मुरलीधर कवि अपने पिता के पचम पुत्र थे तो भूषण अपने पिता के तृतीय पुत्र थे और व चिंतामणि, मतिराम भूषण और नीलकठ उर्फ जटाशकर चार भाई होने की बात ही प्रसिद्ध है पाच नहा। मुरलीधर तो सुजन सुपचम देवीसिंह किअउ कवि भूपन[3] इस पक्ति के आधार पर कप्टन शूरवीरसिंह का कथन है कि यह 'सुपचम' वास्तव म देवीसिंह का विशेषण है। बुदेल वश के इतिहास स सिद्ध है कि उसका प्रवतक पचम' नाम से विख्यात था।[4] शूरवीरसिंह का कहना मान लेने पर भी अनुमान मे कोई अतर नही हा जाता। इस प्रकार दोनो कवियो मे समानता की अपेक्षा असमानता ही अधिक दिखायी देती है।

मुरलीधर कविकृत 'अलकार प्रकाश तथा छदाहृदय प्रकाश के' प्रत्येक उल्लास की समाप्ति पर एक ही सी परिचयात्मक पुष्पिका दी है परतु 'शिवराज भूषण' म इस शली या पद्धति के दशन तक नही होते। यदि शिवराज भूषण' के रचयिता मुरलीधर कवि भूषण होते तो उसम भी उसी प्रकार परिचयात्मक पुष्पिकाए होती जैसी अलकार प्रकाश और छदोहृदय प्रकाश मे पायी जाती हैं। यदि दोनो कवियो की रचनाओ का अन्तरग सूक्ष्मता से देखा जाय तो ज्ञात होगा कि जहा मुरलीधर कवि भूषण की रचनाओ मे सवत्र 'कविभूषण' की छाप मिलती है वहाँ प्रसिद्ध भूषण की लगभग समस्त रचनाओ म केवल भूपन अथवा भूपन भनत की ही छाप सामायत दिखायी देती है। छदोहृदय प्रकाश तथा अलकार प्रकाश के रचयिता कवि भूषण को अपने मूल नाम मुरलीधर' का बहुत ख्याल दिखायी देता है अत ग्रथ के प्रत्यक उल्लास के अन्त मे व अपने वास्तविक नाम 'मुरलीधर का उल्लेख किये बिना नहा रहते परतु प्रसिद्ध भूषण कवि की समस्त रचनाओ म इसके विपरीत बात दिखायी देती है। उन्होने केवल कवि वश परिचय के अतगत ही 'कवि भूषण' उपाधि का उल्लेख किया है, अयत्र वे केवल 'भूषण' शब्द का ही प्रयोग करते हैं और कही भी अपने वास्तविक नाम—यदि मुरलीधर है तो—का उल्लेख नही करते हैं।

---

१ हरिऔध पत्रिका, अक्तूबर १९५९ (डा० किशोरीलाल गुप्ता का लेख), पृ० २६

२ भूषण भारती—हरदयालुसिंह (सन १९५८) प० ६ तथा हिंदी नवरत्न—मिश्रबधु (स० १९९८) पृ० ३९४

३ छदोहृदय प्रकाश—स० डा० विश्वनाथ प्रसाद प० ९४

४ अलकार प्रकाश—मुरलीधर कवि भूषणकृत, स० कप्टन शूरवीरसिंह (सन १९६२), पृ० ११ १२

दोनो कवियो के काव्यादश म भी पर्याप्त अन्तर दृष्टिगोचर होता है । महाकवि भूषण ने 'शिवराज भूषण' मे अलकारा के उदाहरण के रूप मे शायद ही ऐसा छद प्रस्तुत किया हो जिसम शिवाजी की प्रशस्ति न हो। उनका काव्यादश इस प्रकार है—

ब्रह्म के आनन तें निकसें तें अत्यत पुनीत तिहूँ पुर मानी ।
राम जुधिठिर के बरने बलमीकिहु व्यास के सग सुहानी ।
विक्रम भोजहु के गुन गाय के भूषन पावनता अग जानी ।
पुन्य पवित्र सिवा सरज बरन्हाय पवित्र भई बर बानी ॥ २५३ ॥[1]

मुरलीधर कवि भूषण का काव्यादश दूसरा था । 'छदोहृदय प्रकाश' के श्री महाराज वशानुक्रम वनन नामक प्रथम प्रकरण म उन्होने अपने आश्रयदाता हृदयसाहि की प्रशस्ति मे कुछ छद लिखे हैं और ग्रथ के अत म आशीर्वादात्मक एक छद लिखा है। इनके अतिरिक्त समस्त ग्रथ मे आश्रयदाता की प्रशस्ति के छद नाममात्र पाये जाते हैं। उदाहरणो मे सवत्र कृष्ण काव्य ही की अधिकता परिलक्षित होती है। अलकार प्रकाश म भी थोडी भिन्नता के साथ इसी शैली का प्रयोग मिलता है। इसमे ग्रथारम मे राजवश वणन है और अत म आश्रयदाता देवीसिंह के लिए आशीर्वादात्मक छद है। शेष ग्रथ म उदाहरण के रूप म देवीशाह तथा कृष्ण आदि का वणन मिलता है। उनकी यह शैली महाकवि भूषण की शैली से सवथा भिन्न है। मुरलीधर कवि भूषण का काव्यादश इस प्रकार है—

हरि गुन गूथी कविता रुच है सबि को अऊ मीठी ।
ता बिन हो जो बानी जानत साधू जन सीठी ॥
कहिए यहे कविता सब गुन सुन जऊ हे जू ।
जसुमति बालक लीला बरनित जिहि साधु सुचित सुनिकै जू॥
धन सुघरी घनि वह छिन धनि धनि दिन धन्य जनमु जिउ ताको ।
कविता सुधनि कहिए बरनत जह पूत महरि जसुदा को ॥[2]

'छदो हृदय प्रकाश' ग्रथ के साथ-साथ कृष्ण बाललीला सबधी ग्रथ भी हैं । इसकी प्रति डेरागाजीखा मे वल्लभाचाय के शिष्य लालदास के मदिर म सुरक्षित थी। पाकिस्तान हिन्दुस्तान का बँटवारा होने पर भगदड म यह हिन्दुस्तान पहुँची है। डॉ० किशोरीलाल गुप्तजी की धारणा है कि उक्त मुरलीधर कवि भूषण उस सप्रदाय के अनुयायी अवश्य थे।[3] डॉ० किशोरीलाल गुप्त जी की धारणा विचारणीय अवश्य है।

---

१ भूषण—प० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र (द्वितीयावृत्ति, स० २०१७), पृ० १७६, छद २५३

२ छदोहृदय प्रकाश—सपादक डा० विश्वनाथ प्रसाद (सन १९५९), पृ० ६१, छद २१, २३, २४

३ हरिऔध—पत्रिका, अक्तूबर, १९५९, पृ० ३०

'अलकार प्रकाश मे छद, अपदोष, रसनिरूपण, शब्दशक्ति आदि काव्यागो के साथ ही अलकारों का निरूपण भी किया गया है। 'शिवराज भूषण' म भी अलकारो का निरूपण किया गया है और उदाहरण रूप मे शिवाजी के वीर चरित्र के प्रसगो का वणन किया है। यदि दोनो कवि अभिन्न होते तो जहाँ तक सद्धान्तिक लक्षणो की रचना है वहाँ शब्दावली एक-सी होनी चाहिये थी परतु वैसी स्थिति दिखायी नही देती। एक ही अलकार के लक्षण लिखते समय दोनों ग्रथो म प्रयुक्त छन्दो की तुलना करने से ज्ञात हो जाता है कि दोनो की रचना, भाषा, तथा रीति या पद्धति और धारणा मे अन्तर है। उदाहरण के लिए निम्नलिखित छन्द तुलनीय हैं—

श्लेष अलकार लक्षण

एक भाँति के वचन जहँ उपजत अथ बुतीन।
ताहि कहत श्लेष है कवि भूषण बुत बोनि ॥[1]

—मुरलीधर कविभूषण

एक वचन मे होत जहँ बहु अथन को ज्ञान।
स्लेस कहत ताहि को भूषण सुकवि सुजान ॥[2]

—महाकवि भूषण

व्यतिरेक अलकार लक्षण

अधिकाई उपमान ते उपमित मे जो ठानि।
कवि भूषण वह कवित तहँ वितरेकहि मानि ॥[3]

—मुरलीधर कविभूषण

सम छबिवान दुहून मे जहँ वरणत बढ़ि एक।
भूषण कवि कोविद सबै ताहि कहत व्यतिरेक ॥[4]

—महाकवि भूषण

सहोक्ति अलकार लक्षण

कारज कारण सहित जहँ कहिए जुक्ति समेत।
यहै सहोक्ति है कहो कविभूषण कर हेत ॥[5]

—मुरलीधर कविभूषण

वस्तुन को भासत जहाँ जन रजन सह भाव।
ताहि सहोक्ति बखानहीं, जे भूषन कविराव ॥[6]

—महाकवि भूषण

---

१ अलकार प्रकाश—स० शूरवीरसिंह पृ० २२ छद १३५
२ भूषण ग्रथावली—मिश्रबधु नागरी प्रचारिणी सभा, काशी (स० २०१५), पृ० ४६, छद १६५
३ अलकार प्रकाश—स० शूरवीरसिंह, पृ० २० छद १२४
४ भूषण-ग्रन्थावली—मिश्रबधु नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, प० ४४, छद १४६
५ अलकार प्रकाश—स० शूरवीरसिंह (सन १९६३) पृ० २१ छद १२७
६ भूषण ग्रन्थावली—मिश्रबधु नागरी प्रचारिणी सभा काशी (स० २०१५) पृ० ४५, छद १४९

उपयुक्त उदाहरणों से स्पष्ट हो जाता है कि दोनों कवियों की कथनपद्धति तथा भाषा शैली में पर्याप्त अंतर है। महाकवि भूषणकृत लक्षणों में जो स्पष्टता तथा विनम्रता का भाव है वह मुरलीधर कविभूषणकृत लक्षणों में नहीं है। यही स्थिति समस्त छंदों में देखी जा सकती है। 'छंदोहृदय प्रकाश' और अलंकार प्रकाश' के छंदों में जिस प्रकार समानता दृष्टिगोचर होती है उस प्रकार अलंकार प्रकाश' और 'शिवराज भूषण' तथा भूषण की अन्य रचनाओं में दिखायी नहीं देती। कहा जाता है कि शैली लेखक से अभिन्न होती है। (Style is the Man) यदि दोनों कवि अभिन्न होते तो उनकी शैली में इतना अंतर न हो जाता। इसके अतिरिक्त विषय एक होने पर भी अलंकार-प्रकाश' तथा 'शिवराज भूषण' के अलंकारों का क्रम, वर्गीकरण, विवेचन, नामकरण आदि में भी अंतर दिखायी देता है।

महाकवि भूषण की भाषा में ब्रज भाषा के साथ-साथ अरबी-फारसी तथा तुर्की भाषाओं के शब्द भी प्रचुर मात्रा में मिलते हैं तो मुरलीधर कविभूषण की भाषा में ऐसे विदेशी शब्दों की संख्या न्यूनतम है। महाकवि भूषण की कविता का उत्कर्ष वीर रस में दिखायी देता है तो मुरलीधर कवि का शृंगार और शांत रस में। भूषण की रचनाओं में ओज गुण की प्रधानता है तो मुरलीधर कवि की रचनाओं में माधुर्य गुण की। भूषण की रचनाओं में बालकृष्ण वर्णन तथा भक्तिवर्णन विषयक छंद न के बराबर हैं परंतु मुरलीधर कवि की रचनाओं में ऐसे छंद पाये जाते हैं। 'छंदोहृदय प्रकाश' के उल्लास ४, ५, ६, ८, ११, १२ में छंदों के लक्षण देने पर उदाहरण रूप में जो छंद पाये जाते हैं उनमें प्रायः बालकृष्ण का ही वर्णन मिलता है, शृंगारी कृष्ण का नहीं। इस ग्रंथ में अन्यत्र कहीं-कहीं भक्ति के भी छंद प्राप्त हो जाते हैं। अलंकार-प्रकाश में देवभक्ति, गुरुभक्ति, मुनिभक्ति, राजभक्ति के संबंध में वर्णन मिलते हैं[1]। मुरलीधर कविभूषण की रचनाओं में महाकवि भूषण का इतिहास प्रेम नहीं दिखायी देता। भूषण ने अपनी रचनाओं में शिवाजी की प्रशस्ति में जैसे ऐतिहासिक उल्लेख तथा वर्णन किये हैं वैसे मुरलीधर कवि ने अपने आश्रयदाताओं—देवीसिंह और हृदय नारायण देव—के संबंध में नहीं किये हैं। मुरलीधर कवि की रचनाओं में जैसा गद्य का प्रयोग हुआ है वैसा भूषण की किसी रचना में नहीं मिलता।

इस प्रकार पिता का नाम, जाति, निवासस्थान, कविभूषण की उपाधि देनेवाले राजा, रचना में प्राप्त कवि की छाप, भावव्यंजकता, निरूपणशैली, भाषा, कथन-पद्धति, रुचिभेद आदि अनेक बातों में महाकवि भूषण और मुरलीधर कविभूषण में जो भिन्नता दिखायी देती है उससे यह निश्चित हो जाता है कि महाकवि भूषण और मुरलीधर कविभूषण ये दो भिन्न व्यक्ति हैं। अतः केवल दोनों के कश्यपगोत्रीय त्रिपाठी होने मात्र से उन्हें अभिन्न मानना युक्तिसंगत न होगा।

---

१ अलंकार प्रकाश—मुरलीधर कविभूषणकृत, सम्पादक गुरवीरसिंह पँवार (सन १९६२), पृ० ५४, ५५ ५६

४ | महाकवि भूषण के वास्तविक नाम की खोज

हिन्दी साहित्य की वीर-काव्य धारा के प्रमुख एवम् लोकप्रिय कवि के रूप में महाकवि भूषण का नाम सर्वविदित है। इतिहास इस बात का साक्षी है कि व्यक्तित्व तथा कृतित्व का प्रभाव कभी कभी इतना प्रबल हो जाता है कि उसके सम्मुख संबधित व्यक्ति के मूल नाम, वंश अथवा जीवन वृत्त के अन्य आवश्यक अंग भी आवृत्त ही रह जाते हैं। रसिक पाठक अथवा सामान्य समीक्षक इन बातों का महत्व कदाचित ही स्वीकार करेंगे परन्तु अनुसंधानकर्ता की पैनी दृष्टि व्यक्तित्व तथा कृतित्व के अतिरिक्त उसके निजी जीवन के वे आवृत्त अंग खोजने से नहीं चूकती।

महाकवि भूषण का अनुशीलन करते समय अनेक विद्वान समीक्षकों तथा अनुसंधान कर्ताओं ने भूषण के काव्य के अतिरिक्त उनके जीवन वृत्त पर भी पर्याप्त विचार व्यक्त किये हैं जिनमें भूषण का वंश, नाम जाति, पिता, जन्म-मृत्यु आदि अनेक बातों का समावेश हो जाता है। इस निबंध में भूषण के वास्तविक नाम के संबंध में विचार किया जायेगा। उपलब्ध सामग्री एवम् अनुमानों का आश्रय लेकर अनेक विद्वानों ने इस विषय के संबंध में मतप्रदान किया है जिनमें प्रमुख मतों की चर्चा यहाँ की जाएगी।

सबसे प्रथम श्री कुमारपालसिंह जी ने तिकवारपुर के एक भाट के कथन के आधार पर भूषण का वास्तविक नाम 'पतिराम' मान लिया[1]। अपने मत का समर्थन करते हुए वे कहते हैं कि 'पतिराम यह नाम मतिराम के वजन पर होने से ठीक हो सकता है। भाट का मौखिक कथन प्रमाण के रूप में स्वीकार करना उचित नहीं प्रतीत होता। हो सकता है कि उसने सुनी सुनाई किसी निराधार बात को कह दिया हो अथवा 'मतिराम' के म को भ्रम के कारण उसने प समझ लिया हो। पतिराम नाम की पुष्टि न तो समकालीन प्रमाणों से होती है न भूषण के काव्य में ही कहीं इस नाम का उल्लेख आया है। अतः यह मत अविश्वसनीय सामग्री पर समाश्रित होने से ग्राह्य नहीं हो सकता।

---

१ विशाल भारत अगस्त १९३०

दूसरा मत श्री नारायण प्रसाद 'बेताव' जी का है, उनके मतानुसार भूषण का जन्म नाम 'कनौज' था[1]। अपने मत को पुष्ट करने के लिए उन्होंने किसी प्रमाण का उपस्थित नहीं किया। मत प्रदर्शित करते समय प्रयुक्त 'शायद' शब्द इस बात का द्योतक है कि वे स्वयम भी इसके संबंध मे दृढ नहीं थे। दूसरी बात यह भी है कि 'कनौज' का प्रयोग जातिविशेषण के रूप में पाया जाता है, न कि व्यक्तिनाम के रूप में। अतः श्री बेताव जी का यह मत केवल अनुमानाश्रित ही होने से उसका भी ग्रहण करना समीचीन नहीं प्रतीत होता।

प० भगीरथप्रसाद दीक्षित ने प्रथमतः भूषण का मूल नाम जटाशंकर मान लिया था[2], जो केवल कल्पनाश्रित ही था। परन्तु भूषण विमर्श के द्वितीय संस्करण में उन्होंने स्वयं ही भूषण का वास्तविक नाम 'मनिराम' मान लिया है[3]। जिससे उनके पूर्व मत का अपने आप खंडन हो गया है। इसलिए उस पर चर्चा का प्रश्न ही नहीं उठता। उनके कथन का आधार प० बद्रीदत्त पांडेयकृत कुमाऊं के इतिहास का एक कथन तथा उद्धरण है। कुमाऊँ के इतिहास में उदोतचन्द्र के वर्णन में लिखा है—'कहते हैं सितारागढ नरेश साहू महाराज के राजकवि 'मनिराम' राजा के पास अलमोड़ा आये थे। उन्होंने उनकी प्रशंसा में एक कवित्त सुनाया था। राजा ने दस हजार रुपये और एक हाथी इनाम में दे दिया।[4] वह कवित्त इस प्रकार है—

पुराण पुरुष के परम दृग दोउ अहैं,
कहत बेद बानी या पढ गई ॥
ये दिवस पति व निसापति जोतकर हैं
साहू की बडाई बडाये तें न बढ गई ॥
सूरज के घर में करण महादानी भयो,
यहै सोच समुझि चित चिंता मढि गई ॥
जब तोहि राजमंडल उदोतचन्द चन्द के,
करण की किरण करें जे सो कढि गई ॥[5]

इस कवित्त की द्वितीय पंक्ति में तीन अक्षरों की कमी है। प० दीक्षित जी का कहना है कि रिक्त स्थान में भूषण ही नाम था जो लिपिकार की असावधनी से छूट गया है। चूंकि साहू महाराज के दरबारी कवि भूषण ही थे, अन्य कोई नहीं, अतः मनिराम ही भूषण का वास्तविक नाम था[6]। वस्तुतः यह छंद भूषण का नहीं है,

१ निबन्ध प्रलाप, पृ० ९८
२ भूषणविमर्श (द्वितीय संस्करण) पृ० ५
३ महाकवि भूषण (सन १९५३) पृ० १५
४ कुमायूँ का इतिहास—बद्रीदत्त पांडेय पृ० ३०३
५ वही पृ० ३०३
६ महाकवि भूषण, पृ० १५

बल्कि मतिराम का है। शिवसिंह सरोज में यही छंद[1] अधिक शुद्ध रूप में प्राप्त होता है, जिसमें 'मतिराम' की छाप मिलती है। अब रही बात कुमाऊँ के इतिहास के वक्तव्य की। प० बद्रीनाथ पांडेय ने अपने कथन का प्रारंभ ही 'कहते हैं' से किया है, जो इस बात का द्योतक है कि उन्होंने कथन को किसी प्रमाण पर नहीं कहा बल्कि सुनी-सुनाई बात के आधर पर ही कहा है।

इसके अतिरिक्त उनके कथन से यह भी अभिप्राय नहीं निकलता कि शाहू महाराज के उक्त राजकवि 'मतिराम' भूषण ही थे। अब रही बात केवल भूषण ही के शाहू महाराज के दरबारी कवि होने की जिसकी पुष्टि किसी भी प्रमाण से नहीं हो पाती है। अनुसंधान में उपलब्ध सामग्री से यह सिद्ध होता है कि सितारा नरेश शाहू महाराज के दरबार में अनेक पंडितों तथा कवियों को उदार आश्रय प्राप्त हुआ था[2]। अतः केवल भूषण ही को उनका दरबारी कवि मानना उचित नहीं है। 'भूषण शिवाजी महाराज के दरबार में जिस प्रकार स्थायी रूप में रहे थे उस प्रकार शाहू महाराज के दरबार में कभी नहीं रहे। वे तो वाधक्यावस्था में प्रसंगवश कुछ समय के लिए शाहू के दरबार में पहुँचे थे[3]। अतः भूषण का वास्तविक नाम 'मतिराम' मानना तर्कसंगत प्रतीत नहीं होता।

रीतिकालीन साहित्य के ममज्ञ एवम् महाकवि भूषण के विशेष अध्येता आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने भूषण का वास्तविक नाम घनश्याम माना है[4]। उनके अनुमान का आधार जयराम का 'राधामाधव विलास चंपू' है। जयराम ने अपने आश्रयदाता शाहजी महाराज (छत्रपति शिवाजी के पिता) के दरबार में आने जाने वाले कवियों का जो विवरण प्रस्तुत किया है, उसमें निम्नलिखित छंद विचारणीय हैं—

(१) गायो उत्तर देस के द्वै सुनि अति अभिराम,
नाम एक को लालमनि दुसरो है घनश्याम' ॥

× × ×

(२) घघाप्रिदि घनश्याम बबाप्रिदि बात कही छछप्रिदि छंद पुनिए एक गायो।
ममाप्रिदि मत्तगज हहाप्रिदि हेमहय ततप्रिदि ताहि धोर दान पायो ॥
जजाप्रिदि जत्र अरु चिचिप्रिदि चित्र पुनि ननाप्रिदि नप साहे करि सिखायो।
ककाप्रिदि कवि माहें जजप्रिदि जयराम ययप्रिदि यह बात पठि दिखाये ॥[5]

---

१ शिवसिंह सरोज (सप्तम संस्करण) पृ० २५२

२ ३ विशेष जानकारी के लिए देखिए—डा० कृष्ण दिवाकर द्वारा लिखित 'भोंसला राजाओं तथा उनके आश्रित कवियों का हिन्दी काव्य' शीर्षक शोध प्रबंध।

४ भूषण—आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र (द्वि० सं०) पृ० ८८

५ जयराम कृत राधामाधव विलास चंपू—सम्पादक राजवाडे पृ० २७५ ७६

प्रथम छंद से ज्ञात होता है कि उत्तर देश से लालमनि और घनश्याम नामक दो गुणीजन शाहजी महाराज के दरबार में आये और उन्होंने कविता को गाकर सुनाया। आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने इन्हीं शब्दों के आधार पर अपना मतव्य प्रकट करते हुए लिखा है—हिन्दी में चिन्तामणि त्रिपाठी दो नामों (भणिता, छाप) से रचना करते थे—मनिलाल और लालमनि से। इसलिये लालमनि अत्यन्त परिचित नाम है। उनके साथ जाने वाले, रहने वाले ये उत्तर देश के गुणी 'घनश्याम' कौन हैं? घनश्याम का स्मरण जयराम ने यथाप्रसिद्ध घनश्याम में पुनः किया है। उनके एक छंद गाने पढ़ने का भी उल्लेख है। यही नहीं आगे तुरन्त ही अमृतध्वनि छंद में जयराज की रचना भी मिलती है जैसी भूषण ने शिवभूषण में अनुप्रास के उदाहरणों में रखी है।[1] उसके पश्चात जयराम कवि द्वारा रचित अमृतध्वनि छंद के साथ भूषण कृत अमृत ध्वनि छंद की तुलना कर आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र जी ने यह अनुमान किया है कि ये 'घनश्याम' कवि भूषण की पदवी पाने वाले सज्जन होंगे। अपने कथन की पुष्टि में उन्होंने भूषण का निम्नलिखित छंद दिया है—

देखत ही जीवन बिहारी तो तिहारो जायों जीवन द-नाम कहिवे ही को कहानी मैं ॥
क्यों 'घनश्याम' जो कहाव सो सताव मोहि निहच के आजु यहै बात उर आनी मैं ॥
भूषन सुकवि कीज कौनपर रोस निज भागु ही को दोषु आगि उठति ज्यों पानी मैं।
रावरेहू आए हाय हाय मेघराय सब धरनी जुडानी पै न बरती जुडानी मैं ॥[2]

उक्त छंद में प्रयुक्त 'घनश्याम' शब्द भूषण के मूल नाम का ही सूचक है यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। क्योंकि उसी छंद में अन्य अनेक छंदों की भांति भूषण की भणिता का भी प्रयोग हुआ है। अतः एक ही छंद में विभिन्न स्थानों पर एक कवि अपने दो नामों का प्रयोग क्या कर करेगा? इसके अतिरिक्त यह छंद शृंगार के अंतर्गत होने से संदर्भ की दृष्टि से घनश्याम का अर्थ श्रीकृष्ण अथवा कृष्ण मेघ लेना ही समीचीन प्रतीत होता है। आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र जी ने पाद टिप्पणी में ये दोनों अर्थ दिये भी हैं।

चिन्तामणि के साथ शाहजी के दरबार में आने वाले घनश्याम चिन्तामणि के कोई समकालीन सुहृद मित्र कवि भी हो सकते हैं जिनका विशेष परिचय प्राप्त नहीं है। भूषण की उपलब्ध रचनाओं में कहीं शाहजी के दरबार में जाने का उल्लेख भी नहीं मिलता। अतः प्रबल प्रमाणों के अभाव में निश्चित रूप से यह सिद्ध नहीं होता कि भूषण का वास्तविक नाम 'घनश्याम' ही था। यह केवल अनुमान मात्र रह जाता है।

कप्तान शूरवीरसिंह ने भूषण का वास्तविक नाम 'मुरलीधर' माना है।[3] उनके कथन का मूलाधार मुरलीधर कविभूषण द्वारा रचित 'छंदो हृदय प्रकाश' तथा 'अलंकार-

१ भूषण—आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ० ८८
२ वही पृ० ८९
३ मुरलीधर कविभूषण कृत—अलंकार प्रकाश, स० कैप्टन शूरवीरसिंह (भूमिका)

बल्कि मतिराम था है। शिवसिंह सरोज म यही छन्द[1] अधिक शुद्ध रूप म प्राप्त होता है, जिसम 'मतिराम' की छाप मिलती है। अब रही बात कुमाऊँ क इतिहास के कर्तृत्व की। प० बद्रीनाथ पांडेय ने अपने कथन का प्रारम्भ ही 'कहते हैं' से किया है, जो इस बात का द्योतक है कि उन्होंने कथन को किसी प्रमाण पर नही कहा बल्कि सुनी-सुनाई बात के आधर पर ही कहा है।

इसके अतिरिक्त उनके कथन से यह भी अभिप्राय नही निकलता कि शाहू महाराज के उक्त राजकवि 'मनिराम' भूषण ही थे। अब रही बात केवल भूषण ही के शाहू महाराज के दरबारी कवि होने की जिसकी पुष्टि किसी भी प्रमाण से नहीं हो पाती है। अनुसधान म उपलब्ध सामग्री स यह सिद्ध होता ह कि सितारा नरेश शाहू महाराज के दरबार मे अनेक पडितो तथा कवियो को उदार आश्रय प्राप्त हुआ था[2]। अत केवल भूषण ही को उनका दरबारी कवि मानना उचित नही ह। 'भूषण' शिवाजी महाराज के दरबार म जिस प्रकार स्थायी रूप म रह थे उस प्रकार शाहू महाराज के दरबार मे कभी नही रहे। वे तो वायस्यावस्था म प्रसगवश कुछ समय क लिए शाहू के दरबार म पहुँचे थे[3]। अत भूषण का वास्तविक नाम 'मनिराम' मानना तकसगत प्रतीत नही होता।

रीतिकालीन साहित्य के ममज्ञ एवम महाकवि भूषण के विशेष अध्येता आचाय विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने भूषण का वास्तविक नाम घनश्याम माना है[4]। उनके अनुमान का आधार जयराम का राधामाधव विलास चपू है। जयराम ने अपने आश्रयदाता शाहजी महाराज (छत्रपति शिवाजी के पिता) के दरबार म आने जाने वाले कवियो का जो विवरण प्रस्तुत किया है उसम निम्नलिखित छद विचारणीय हैं—

(१) आयो उत्तर देस के द्वै गुनि अति अभिराम,
नाम एक को लालमनि दुसरो है घनश्याम' ॥

× × ×

(२) घघाप्रिदि घनश्याम बबाप्रिदि बात कही छछप्रिदि छद पुनिए एक भायो।
ममाप्रिदि मतगज हहाप्रिदि हेमहय ततप्रिदि ताहि धीर दान पायो ॥
जजाप्रिदि जत्र अरु चिचिप्रिदि चित्र पुनि ननाप्रिदि नप साहे करि सिखायो।
ककाप्रिदि कवि माहें जजप्रिदि जयराम ययप्रिदि यह मात पठि दिखाये ॥[5]

---

१ शिवसिंह सरोज (सप्तम सस्करण) पृ० २५३

२ ३ विशेष जानकारी क लिए देखिए—डा० कृष्ण दिवाकर द्वारा लिखित 'भोंसला राजाओं तथा उनके आश्रित कवियों का हिन्दी काव्य' शीर्षक शोध प्रबंध।

४ भूषण—आचाय विश्वनाथ प्रसाद मिश्र (द्वि० स०) पृ० ८८

५ जयराम कृत राधामाधव विलास चपू—सम्पादक राजवाडे पृ० २७५ ७६

प्रथम छंद से ज्ञात होता है कि उत्तर देश से लालमनि और घनश्याम नामक दो गुणीजन शाहाजी महाराज के दरबार में आये और उन्होंने कविता को गाकर सुनाया। आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने इन्हीं शब्दों के आधार पर अपना मतव्य प्रकट करते हुए लिखा है—हिन्दी में चिन्तामणि त्रिपाठी दो नामों (भणिता, छाप) से रचना करते थे—मनिलाल और लालमनि से। इसलिये लालमनि अत्यन्त परिचित नाम है। उनके साथ जाने वाले, रहने वाले ये उत्तर देश के गुणी 'घनश्याम' कौन हैं? घनश्याम का स्मरण जयराम ने यथाविधि घनश्याम में पुनः किया है। उनके एक छंद गाने पढ़ने का भी उल्लेख है। यही नहीं आगे तुरन्त ही अमृतध्वनि छंद में जयराज की रचना भी मिलती है जैसी भूषण ने शिवभूषण में अनुप्रास के उदाहरणों में रखी है।[1] इसके पश्चात् जयराम कवि द्वारा रचित अमृतध्वनि छंद के साथ भूषण कृत अमृत ध्वनि छंद की तुलना कर आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र जी ने यह अनुमान किया है कि ये 'घनश्याम' कवि भूषण की पदवी पाने वाले सज्जन होंगे। अपने कथन की पुष्टि में उन्होंने भूषण का निम्नलिखित छंद दिया है—

देखत ही जीवन बिडारी तो तिहारो जान्यों जीवन ब-नाम कहिवे ही को कहानी मैं ॥
कैधौं 'घनश्याम' जो कहाव सो सताव मोहिं निहचै के आजु यहै बात उर आनी मैं ॥
भूषन सुकवि कीज कौनपर रोस निज भागु ही को दोपु आगि उठति ज्यों पानी मैं।
रावरेहू आए हाय हाय मेघराय सब धरनी जुडानी पै न बरती जुडानी मैं ॥[2]

उक्त छंद में प्रयुक्त 'घनश्याम' शब्द भूषण के मूल नाम का ही सूचक है यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। क्योंकि उसी छंद में अन्य अनेक छंदों की भाँति भूषण की भणिता का भी प्रयोग हुआ है। अतः एक ही छंद में विभिन्न स्थानों पर एक कवि अपने दो नामों का प्रयोग क्यों कर करेगा? इसके अतिरिक्त यह छंद शृंगार के अंतर्गत होने से सदम की दृष्टि से घनश्याम का अर्थ श्रीकृष्ण अथवा कृष्ण मेघ लेना ही समीचीन प्रतीत होता है। आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र जी ने पाद टिप्पणी में ये दोनों अर्थ दिये भी हैं।

चिन्तामणि के साथ शाहाजी के दरबार में आने वाले घनश्याम चिन्तामणि के कोई समशालीन सुहृद मित्र कवि भी हो सकते हैं जिनका विशेष परिचय प्राप्त नहीं है। भूषण की उपलब्ध रचनाओं में कहीं शाहाजी के दरबार में जाने का उल्लेख भी नहीं मिलता। अतः प्रबल प्रमाणों के अभाव से निश्चित रूप से यह सिद्ध नहीं होता कि भूषण का वास्तविक नाम 'घनश्याम' ही था। यह केवल अनुमान मात्र रह जाता है।

कप्टन शूरवीरसिंह ने भूषण का वास्तविक नाम 'मुरलीधर' माना है।[3] उनके कथन का मूलाधार मुरलीधर कविभूषण द्वारा रचित 'छंदो हृदय प्रकाश' तथा 'अलंकार-

१ भूषण—आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ० ८८
२ वही, पृ० ८९
३ मुरलीधर कविभूषण कृत—अलंकार प्रकाश, स० कैप्टन शूरवीरसिंह (भूमिका)

प्रकाश' नामक दो ग्रंथ हैं। उन्होंने यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि मुरलीधर कवि भूषण और प्रसिद्ध महाकवि भूषण एक ही व्यक्ति थे। परन्तु दोनों का गंभीर अनुशीलन करने पर यह सिद्ध हो जाता है कि दोनों कवि सर्वथा भिन्न व्यक्ति थे[1], अतः कथन का मूलाधार ही ढह जाने से उनका मत भी अपने आप अमान्य सिद्ध हुआ है।

महाकवि भूषण के वास्तविक नाम की खोज में विद्वानों ने जो मत प्रस्तुत किये हैं वे अधिकतर अनुमान अथवा अविश्वसनीय सामग्री पर समाश्रित होने से निश्चय रूप में स्वीकार नहीं किये जा सकते। भूषण के मूल नाम की खोज उस कस्तूरी के समान ही प्रतीत होती है जिसे खोजने के लिए मृग वन-वन घूमता रहता है। भूषण की समस्त रचनाओं का अध्ययन करने के उपरान्त यही प्रश्न उठता है कि आखिर यह खोज क्यों हो रही है ? इसका मूल कारण संभवत शिवराज भूषण का यही छंद है—

कुल सुलंक चितकूट पति साहस सील समुद्र।
'कवि भूषन' पदवी दई हृदयराम सुत रुद्र॥[2]

इस छंद से स्पष्ट होता है कि चित्रकूटाधिपति हृदयराम सुत रुद्र ने भूषण को जो पदवी प्रदान की वह 'कविभूषण' है न कि भूषण। इस छंद के पूर्ववर्ती छंदों में निम्नलिखित छंद विशेष विचारणीय हैं—

देसनि देसनि तें गुनी आवत जाचन ताहि।[3]
तिन मे आयो एक कवि 'भूषन' कहियतु जाहि।

इस छंद में प्रयुक्त अंश 'भूषण कहियतु जाहि'—से स्पष्ट होता है कि कवि का वास्तविक नाम भूषण ही था। भूषण की समस्त रचनाओं में भूखन भूषण भूषन, भूषण सुकवि भूषण भनत आदि की ही छाप विद्यमान है। यदि उनको अपनी पदवी या उपाधि से ही प्रसिद्ध होना था तो मुरलीधर कवि ने जिस प्रकार प्रत्येक छंद में कवि भूषण का प्रयोग किया है उसी प्रकार भूषण के द्वारा भी किया जाता। पदवी को खंडित रूप में प्रयोग करना सर्वथा अस्वाभाविक ही प्रतीत होता है। यदि उनका मूल नाम दूसरा होता तो वे कहियतु भूषण जाहि के समय ही लिख देते। शिवराज भूषण की समाप्ति दर्शक पुष्पिका में भी इस प्रकार का कोई संकेत तक प्राप्त नहीं होता। अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि महाकवि भूषण का वास्तविक नाम भूषण ही था। उनके इस नाम को सुनकर तथा उनके कवित्व से प्रसन्न होकर संभवत चित्रकूटाधिपति ने स्वाभाविक रूप से कहा था कि आप तो भूषण हैं ही परन्तु कवियों में भूषण हैं, और इसी के फलस्वरूप नाम सादृश्य कविभूषण की पदवी उन्होंने प्रदान की होगी। निश्चय रूप में यही कहा जा सकता है कि महाकवि भूषण का वास्तविक नाम 'भूषण' ही था अतः उनके मूल नाम की खोज करना व्यर्थ है।

१ विस्तृत विवेचन के लिये देखिये—इसी ग्रंथ का 'महाकवि भूषण और मुरलीधर कविभूषण—भिन्न व्यक्ति' शीर्षक निबंध।

२ भूषण ग्रंथावली—सम्पादक मिश्रबंधु (संवत २०१५), पृ० ८, छंद २५

३ वही—भूषण ग्रंथावली पृ० ८, छंद २८

५ | नीलकंठ उपनाम जटाशंकर त्रिपाठी के सम्बन्ध में

हिन्दी साहित्य के इतिहास में चिन्तामणि, भूषण तथा मतिराम के प्रसंग में नीलकंठ उपनाम जटाशंकर का भी नाम आ जाता है। परंपरा विरुद्ध कथनों के अनुसार इन चारों को भाई माना गया है। कहते हैं कि इनके पिता रत्नाकर त्रिपाठी टिकमापुर में रहते थे। वे देवी के परम भक्त थे। वे प्रतिदिन अपने दैनंदिन कार्य से मुक्त होने पर नियमित रूप से टिकमापुर में स्थित भवन की देवी की पूजा करने जाते थे। उसी की अपार कृपा से रत्नाकरजी को चार प्रतिभासम्पन्न पुत्र प्राप्त हुए जिनके नाम हैं— चिन्तामणि, भूषण, मतिराम और नीलकंठ उपनाम जटाशंकर।

चिन्तामणि भूषण तथा मतिराम की भाँति नीलकंठ की हिन्दी काव्य रचनाएँ उपलब्ध हो जाती तो समवत रीतिकाल के कवियों में इनकी चर्चा विस्तार से हो जाती। शिवसिंह-सरोज' में नीलकंठ को मतिराम के भाई के रूप में स्वीकार कर उनका उपस्थितिकाल संवत १७३० वि० दिया है।[1] डॉ० ग्रियर्सन ने नीलकंठ को चिन्तामणि त्रिपाठी के भाई कहकर जिला कानपुर के निवासी कहा है। उन्होंने नीलकंठ द्वारा लिखित काव्य निर्णय तथा सरस्वतिविलास नामक दो ग्रंथों का भी उल्लेख किया है[2] जो दुर्भाग्य से अप्राप्य हैं। मिश्रबंधु विनोद में नीलकंठ द्वारा रचित अमरेसविलास का उल्लेख किया गया है जिसका रचनाकाल संवत १६९८ वि० दिया गया है। सौभाग्य से इस ग्रंथ की एक खंडित प्रति खोज में मिली है।[3] यह ग्रंथ संस्कृत के प्रसिद्ध अमरुक शतक का पद्यबद्ध अनुवाद है जो रीवाँ नरेश अमरसिंह के लिए संवत १६९८ वि० में रचा गया था। अमरेसविलास' में रचनाकाल सम्बन्धी छंद इस प्रकार दिया गया है—

बरष सै सोरह डानवे साते सावन मास।
नीलकंठ' कवि उच्चरित यो अमरेस विलास॥

---

१ सरोज-सर्वेक्षण—डॉ० किशोरीलाल गुप्त (प्रथम संस्करण) पृ० ४००

२ डा० ग्रियर्सनकृत हिन्दी साहित्य का प्रथम इतिहास—डा० किशोरीलाल गुप्त (प्रथम संस्करण) पृ० १२८

३ नागरी प्रचारिणी सभा की खोज रिपोर्ट, १९०३।१

इन्हीं के द्वारा लिखित नायिका विषयक एक और ग्रंथ खोज में उपलब्ध हुआ है जो दुर्भाग्य से खंडित रूप में ही है।[1] इस प्रकार अब तक उपलब्ध विवरणों में नीलकंठ द्वारा लिखित काव्यनिर्णय, सत्कविगिरविलास, अमरेसविलास, नायिका भेद, इन चार ग्रंथों का उल्लेख प्राप्त होता है जिनमें से दो ग्रंथ, खंडितावस्था में भी क्यों न हों, उपलब्ध हुए हैं। इनके अतिरिक्त नीलकंठ द्वारा रचित कुछ स्फुट छंद भी उपलब्ध होते हैं जिससे अनुमान होता है कि उनकी और भी रचनाएँ होंगी जो आज अनुपलब्ध सी हो गई हैं। श्री अरुणोदयराय ने 'भूषण ग्रंथावली' की भूमिका में नीलकंठ के संबंध में सर्वथा नवीन सूचना दी है कि नीलकंठ महाराज शिवाजी के सुपुत्र राममुराज के दरबार में रहे थे। साथ ही साथ उन्होंने नीलकंठ की स्फुट रचनाओं के देखने का भी उल्लेख किया है। नीलकंठ के निम्नलिखित छन्द से श्री अरुणोदयराय के कथन की पुष्टि कुछ सीमा तक हो जाती है—

तन पर भार तीन तनपर भार तीन
तनपर भार तीन तनपर भार है ॥
पूजे देवदार तीन पूजे देवदार तीन है,
पूजे देव द्वार तीन पूजे देवदार है ॥
'निलकंठ' दारुण दिलेलखाँ तिहारी धाक,
नाघती न द्वार तें व नाघती पहार है ॥
भये रन कर गहे बहिरे न संग रहे,
बार छूटे बार छूटे बार छूटे बार है ॥[2]

इस छन्द में दिलेरखाँ की धाक से जनता की जो दयनीय एवं दारुण स्थिति हुई है, उसका वर्णन है। यह इतिहास प्रसिद्ध घटना है कि छत्रपति शिवाजी महाराज के पुत्र युवराज संभाजी (शंभुराज) तथा मुगलों का प्रसिद्ध सरदार दिलेरखाँ १३ दिसंबर १६७८ बीस नवंबर १६७९ तक एक साथ रहे थे। तत्कालीन पारिवारिक या अन्य किसी कारण से उद्विग्न होकर स्वतुपक्ष से मिलने का अविचार शंभराज द्वारा हुआ था। परन्तु बीजापुर की लड़ाई में शिवाजी द्वारा पराजित होकर पन्हाला की ओर जाते समय रास्ते में दिलेरखाँ ने हिन्दू जनता पर जो अमानुषिक अत्याचार किये उन्हें शंभुराज का भावुक हृदय देख न सका और फलस्वरूप पश्चातापदग्ध स्थिति में वे अपने पिता के पास लौट आये। दिलेरखाँ के इस अत्याचार का वर्णन करते हुए इतिहासकारों ने लिखा है कि हजारों महिलाओं ने शील की रक्षा के हेतु छोटे छोटे बालकों सहित कुँआ तथा बावडियों में कूदकर आत्म हत्याएँ कीं। हिंदुओं को पकड़कर उनकी बिक्री करना, लूटमार से धन प्राप्त करना आदि नृशंस दुष्कृत्य दिलेरखाँ ने किये।[3]

---

१ हस्तलिखित हिंदी पुस्तकों का संक्षिप्त विवरण (प्रथम खंड) पृ० ५१५
२ शिवराज भूषण—सम्पादक श्री गोविंद गिल्ला भाई (सन १९१६ ई०), पृ० ६
३ चक्रवर्ती शिवाजी—गो० स० सरदेसाई (सन १९३२ ई०), पृ० २०४ २०५

छंद में प्रयुक्त वर्तमानकालीन क्रियाओं तथा ऐतिहासिक घटना को देखकर स्पष्ट होता है कि कवि ने आँखों देखी घटना का वर्णन किया है। दिलेरखाँ विषयक यह छन्द देखकर अनुमान होता है कि नीलकण्ठ शंभुराज तथा दिलेरखाँ के आश्रय में उसी विशेष कालखण्ड में (तेरह दिसम्बर, १६७८ से बीस नवंबर, १६७९) रहे हों, जिस समय इन दोनों में सबंध अच्छे रहे थे। केवल एक छंद मात्र से इसके संबंध में अधिक कुछ कहना समीचीन भी नहीं है। उपलब्ध सामग्री के आधार पर नीलकंठ का उपस्थितिकाल सन् १६४१ ई० से सन् १६७९ ई० तक माना जा सकता है। नीलकंठ के उपरिनिर्दिष्ट छंद में प्रयुक्त वर्णयोजना तथा यमक अलंकार की आसक्ति को देखकर महाकवि भूषण के निम्नलिखित प्रसिद्ध छंद का स्मरण हो जाता है—

ऊँचे घोर मन्दर के अन्दर रहनवारी,
ऊँचे घोर मन्दर के अन्दर रहाती हैं ॥
कंद मूल भोग करैं कंद मूल भोग कर,
तीन बेर खाती ते वे तीन बेर खाती हैं ॥
भूषन सिथिल अंग भूषन सिथिल अंग,
बिजन डुलाती ते वे बिजन डुलाती हैं।
भूषन भनत सिवराज तेरे त्रास,
नगन जड़ाती ते वे नगन जड़ाती हैं ॥[१]

चिंतामणि, भूषण तथा मतिराम के उपेक्षित भाई नीलकंठ के अप्राप्य एवं अज्ञात ग्रंथों की खोज कर उन्हें प्रकाश में लाना अत्यावश्यक है। उनके जीवन वृत्त तथा कवित्व के संबंध में अधिक विस्तार से एवं प्रामाणिक रूप में लिखना उनके समस्त ग्रन्थों के अनुशीलन के उपरान्त ही संभव है। आशा है कि खोज में उपलब्ध ग्रंथों का विस्तृत विवरण मैं विद्वानों के सम्मुख शीघ्र ही प्रस्तुत कर सकूँगा। इस लेख का उद्देश्य नीलकंठ की अद्यावधि उपलब्ध सामग्री का परिचय देना मात्र है अतः इसमें अधिक विवेचन नहीं दिया गया।

---

१ भूषण ग्रंथावली—सम्पादक आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र (द्वि० सं०), पृ० २११

६ | रीतिकाल के अज्ञात कवि 'सीताराम'

हिन्दी साहित्य के अनेक उत्कृष्ट ग्रन्थ विभिन्न संग्रहालयों में अज्ञात रूप में बिखरे पड़े हैं। इस अज्ञात ग्रन्थ रत्नाकर का मंथन कर मूल्यवान एवं महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों को सुधी पाठकों के समक्ष लाना अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कार्य है और हिन्दी साहित्य के इतिहासकारों को भी चाहिए कि खोज में उपलब्ध अज्ञात ग्रन्थों तथा ग्रन्थकारों का समावेश वे अपने नए-नए संस्करण में करते रहें। हिन्दी साहित्य में रीतिकालीन ग्रन्थों का अपना विशिष्ट स्थान है। इस काल में यद्यपि शृंगार रस की प्रधानता रही फिर भी भक्ति नीति तथा वीररस से पूर्ण रचनाओं का भी सम्पूर्ण अभाव न था। न्यूनाधिक मात्रा में आदिकालीन साहित्यिक प्रवृत्तियों का विकास इस युग में दृष्टिगोचर होता है। रीतिकाल के अन्तिम चरण में सीताराम महापात्र द्वारा रचित उक्ति विलास नामक ग्रन्थ की एकमात्र हस्तलिखित प्रति हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग में सुरक्षित है। यह प्रति अत्यन्त जीर्ण एवम् खण्डित रूप में है। उसका आकार ११½"×७ है। इस लेख में सीताराम महापात्र तथा उनकी उपलब्ध रचना 'उक्तिविलास' का संक्षिप्त परिचय दे रहा हूँ।

सीताराम का जीवन-वृत्त

सीताराम का जीवन वृत्त हिंदी साहित्य के इतिहासों, खोजविवरणों आदि में अथवा अन्यत्र कहीं भी प्राप्त नहीं होता। अतः 'उक्तिविलास' के अन्तर्गत प्राप्त छन्दों के आधार पर ही इनका जीवन परिचय दिया जा सकता है। इस ग्रन्थ में कवि परिचय विषयक निम्नलिखित छन्द प्राप्त होते हैं—

नगर नागपुर में बसैं कवि-सत सीताराम।
प्रेम नेम प्रभु चरण सों साधु ढिग विश्राम ॥
सुहृद संग निसिदिन रहै कौतुक्यो वचन विनोद।
'उक्तिविलास' बनाइय जासों उपजै मोद ॥
कसो सोच विचार कै कौतुक्यो बुधि अनुमान।
लघुमति गुण अगणित प्रभु अपार नहि विख्यान।

उक्ति पूर्व सब बाँधि रह्यो जूठन लई सुबीन।
गरजन लीजे शोधिक कवि जन सुघर प्रबीन ॥[1]

इन छन्दों के अतिरिक्त ग्रन्थ में दी हुई पुष्पिका इस प्रकार है—

इति श्री मोतीरामात्मज सीताराम महापात्रे विरचिते
उक्तिविलासे सं गार प्रसंगे तृतीयो प्रकाश सम्पूर्ण ॥

इन छंदों एवम् पुष्पिका से ज्ञात होता है कि सीताराम नागपुर के निवासी थे। पिता का नाम मोतीराम और उपनाम महापात्र था। छंद में प्रयुक्त 'कवि-सुत' शब्द से प्रतीत होता है कि इनके पिता मोतीराम भी कवि थे परन्तु दुर्भाग्य से उनका कोई परिचय प्राप्त नहीं होता। छंदों से ज्ञात होता है कि वे धार्मिक प्रवृत्ति के व्यक्ति थे और साधु-संतों के सहवास में रहते थे। चौथे छंद में प्रयुक्त 'जूठन लई सुबीन' से कवि की विनयशील वृत्ति का परिचय होता है। काव्य में ये सीताराम के अतिरिक्त 'सीतलदास' तथा 'सीतल' की छाप भी लगाते थे। इस दृष्टि से इनके निम्नलिखित छंद द्रष्टव्य हैं—

राम सनेही जगत में प्राण सनेही देहि।
पचतत्व की खोज में 'सीतल' हरि भजि लेहि ॥
उक्ति मुक्ति को मूल है बरण्यो 'सीतलदास'।
ज्ञानी रसिक बिनोदहित कीन्ह्यो उक्तिविलास ॥[2]

सीताराम के जन्मकाल के संबंध में भी कहीं उल्लेख प्राप्त नहीं होता। नागपुर के प्रसिद्ध इतिहासकार तथा साहित्यिक पंडित प्रयागदत्त शुक्ल जी ने लिखा है कि सीताराम का मकान नागपुर के अंतर्गत 'पुरानी शुक्रवारी' विभाग में था और इनका स्वर्गवास ई० सन् १८६५ में हुआ।[3] उन्होंने यह सूचना सीताराम के नागपुर निवासी वंशजों से प्राप्त की है। सीताराम ने लोकमणि मिश्र के 'नवरसरंग' की जो प्रतिलिपि बनाई थी, उसके अन्त में इस प्रकार लिखा है—

"इति श्रीमन्मिश्र केशवराम चरणाम्बोरुह चचरीक लोकमणि विरचितया नवरसरंग वर्णनो नाम द्वादशो अंग समाप्त ॥ शके १७५६ संवत् १८९१ सन् १२४४ फसलीमाह जमा दुआनी तारीख ७ रोज गुरुवार उर्फ भाद्रपद शुक्ल १० इदं पुस्तक सीताराम महापात्र मोतीरामात्मज तेन स्वहस्तेन लिखितम् आत्मा अथम परोपकारायम पन्नगपुर नग्र तन्मध्ये परसोजी भोंसले राज्यारूढ तस्याश्रयेन किंचित सुखाश्रातरवकर्मानुयोगेन सप्तस्थितम ॥"

इससे स्पष्ट होता है कि सीताराम महापात्र ने 'नवरसरंग' का प्रतिलिपि संवत् १८९१ अर्थात् सन् १८३४ ई० में बनाई थी और उन्हें परसोजी भोंसला का

---

१ सीताराम कृत उक्तिविलास (हस्तलिखित प्रति), १।२, ३, ४ तथा ५
२ उक्तिविलास १।५९ तथा ३।१०३
३ हिन्दी साहित्य को विदर्भ की देन—प्रयागदत्त शुक्ल (प्र० सं०), पृ० १०१

६ | रीतिकाल के अज्ञात कवि 'सीताराम'

हिन्दी साहित्य के अनेक उत्कृष्ट ग्रन्थ विभिन्न संग्रहालयों में अज्ञात रूप में बिखरे पड़े हैं। इस अज्ञात ग्रन्थ रत्नाकर का मंथन कर मूल्यवान एवं महत्त्वपूर्ण ग्रंथों को सुधी पाठकों के समक्ष लाना अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कार्य है और हिन्दी साहित्य के इतिहासकारों को भी चाहिए कि खोज में उपलब्ध अज्ञात ग्रंथों तथा ग्रंथकारों का समावेश वे अपने नए-नए संस्करण में करते रहें। हिन्दी साहित्य में रीतिकालीन ग्रंथों का अपना विशिष्ट स्थान है। इस काल में यद्यपि शृंगार रस की प्रधानता रही फिर भी भक्ति नीति तथा वीररस से पूर्ण रचनाओं का भी संपूर्ण अभाव न था। न्यूनाधिक मात्रा में आदिकालीन साहित्यिक प्रवृत्तियों का विकास इस युग में दृष्टिगोचर होता है। रीतिकाल के अन्तिम चरण में सीताराम महापात्र द्वारा रचित उक्ति विलास नामक ग्रंथ की एकमात्र हस्तलिखित प्रति हिंदी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग में सुरक्षित है। यह प्रति अत्यन्त जीर्ण एवम् खण्डित रूप में है। उसका आकार ११½"×७ है। इस लेख में सीताराम महापात्र तथा उनकी उपलब्ध रचना उक्तिविलास का संक्षिप्त परिचय दे रहा हूँ।

सीताराम का जीवन-वृत्त

सीताराम का जीवन वृत्त हिंदी साहित्य के इतिहासों खोजविवरणों आदि में अथवा अन्यत्र कहीं भी प्राप्त नहीं होता। अतः 'उक्तिविलास' के अन्तर्गत प्राप्त छन्दों के आधार पर ही इनका जीवन परिचय दिया जा सकता है। इस ग्रन्थ में कवि परिचय विषयक निम्नलिखित छन्द प्राप्त होते हैं—

नगर नागपुर में बस कवि-सुत सीताराम।
प्रेम नेम प्रभु चरण सो साधु ढिग विश्राम ।।
सुहृद संग निसिदिन रहैं कीन्ह्यो वचन विनोद।
उक्तिविलास' बनाइयें जासो उपज मोद ।।
तासो सोच विचार कै कीन्ह्यो बुधि अनुमान।
लघुमति गुण अगणित प्रभु जथा नाचित विध्यान।

उक्ति पूव सब बँधि रही जूठन लई सुबीन।
परजन लोज शोधिक कवि जन सुघर प्रवीन ॥[1]

इन छदो के अतिरिक्त ग्रथ म दी हुई पुष्पिका इस प्रकार है—

इति श्री मोतीरामात्मज सीताराम महापात्रे विरचिते
उक्तिविलासे स गार प्रसगे तृतीयो प्रकाश सम्पूण ॥

इन छदा एवम पुष्पिका से ज्ञात होता है कि सीताराम नागपुर के निवासी थे। पिता का नाम मोतीराम और उपनाम महापात्र था। छद मे प्रयुक्त 'कवि-सुत' शब्द से प्रतीत होता है कि इनके पिता मोतीराम भी कवि थे परन्तु दुर्भाग्य से उनका कोई परिचय प्राप्त नही होता। छदा से ज्ञात होता है कि वे धार्मिक प्रवृत्ति के व्यक्ति थे और साधु-सतो के सहवास म रहते थे। चौथे छद मे प्रयुक्त 'जूठन लई सुबीन' स कवि की विनयशील वृत्ति का परिचय होता है। काव्य मे ये सीताराम के अतिरिक्त 'सीतलदास' तथा 'सीतल' की छाप भी लगाते थे। इस दृष्टि से इनके निम्नलिखित छद द्रष्टव्य हैं—

राम सनेही जगत मैं प्राण सनेही देहि।
पचतत्व की खोज मे 'सीतल' हरि भजि लेहि ॥
उक्ति मुक्ति को मूल है वरण्यो 'सीतलदास'।
ज्ञानी रसिक विनोदहित कीन्हो उक्तिविलास ॥[2]

सीताराम के जन्मकाल के सबध मे भी कहीं उल्लेख प्राप्त नही होता। नागपुर के प्रसिद्ध इतिहासकार तथा साहित्यिक पडित प्रयागदत्त शुक्ल जी ने लिखा है कि सीताराम का मकान नागपुर के अतगत 'पुरानी शुक्रवारी' विभाग मे था और इनका स्वगवास ई० सन १८६५ म हुआ।[3] उन्होने यह सूचना सीताराम के नागपुर निवासी वशजो से प्राप्त की है। सीताराम ने लोकमणि मिश्र के 'नवरसरग' की जो प्रतिलिपि बनाई थी, उसके अन्त मे इस प्रकार लिखा है—

"इति श्रीमर्मिश्र केशवराम चरणाम्बुरुह चचरीक लोकमणि विरचितयाँ नवरसरग वर्णनो नाम द्वादशो अग समाप्त ॥ शके १७२६ सवत १८६१ सन १२४४ फसलीमाह जमा दुआनी तारीख ७ रोज गुरवार उफ भाद्रपद शुक्ल १० इद पुस्तक सीताराम महापात्र मोतीरामात्मज तेन स्वहस्तेन लिखितम आत्मा अयम परोपकारायम पत्तनपुर नग्र तन्मध्ये परसोजी भोंसले राज्यारूढ तस्याश्रयेन किंचित सुखाश्रातस्वकर्मानुयोगेन मयास्थितम ॥"

इससे स्पष्ट होता है कि सीताराम महापात्र ने 'नवरसरग' की प्रतिलिपि सवत १८६१ अर्थात् सन १८०४ ई० मे बनाई थी और उन्हें परसोजी भोंसला का

१ सीताराम कृत उक्तिविलास (हस्तलिखित प्रति), १।२, ३, ४ तथा ५
२ उक्तिविलास १।५९ तथा ३।१०३
३ हिन्दी साहित्य को विदर्भ की देन—प्रयागदत्त शुक्ल (प्र० स०), पृ० १०१

आश्रय था। इतिहास से ज्ञात होता है कि परसोजी का स्वर्गवास एक फरवरी १८१७ ई० मे हुआ।[1] अत यह निश्चित हो जाता है कि सीताराम परसोजी के यहाँ उनकी मृत्यु के पूर्व गए थे। परसोजी की मृत्यु के सत्रह वर्ष के पश्चात बनायी गई नवरसरंग की प्रतिलिपि मे सीताराम ने अपने आश्रयदाता परसोजी भोंसले का जिस प्रकार उल्लेख किया है उससे प्रतीत होता है कि सीताराम को सभवत परसोजी महाराज के द्वारा कोई भूमि अथवा स्थायीवृत्ति प्राप्त हुई थी जिससे उनकी मृत्यु के पश्चात भी सीताराम अपनी जीविका सुखसहित चलाते थे और सभवत इसी कारण से सीताराम स्वय को प्रमुखत परसोजी के ही आश्रित मानते थे। परसोजी के द्वारा इस प्रकार का सम्मान पानेवाले सीताराम उस समय अवश्य ही ३५ के लगभग रहे होंगे। यदि यह स्वीकार किया जाय तो इस हिसाब से कवि का जन्म काल सन् १७८२ ई० के आसपास ठहर जाता है। इस प्रकार उक्तिविलास की रचना के समय सीताराम की अवस्था ५४ वर्ष की ठहर जाती है। उक्तिविलास' म सीताराम ने जो भक्तिपरक छन्द लिखे हैं उन्हे देखकर यह अनुमान होता है कि इसकी रचना अवश्य ही कवि की प्रौढावस्था मे हुई थी। सन १७८२ अर्थात सवत १८३९ वि० के आसपास इनका जन्मकाल मानना अधिक सगत प्रतीत होता है। अत यह कहा जा सकता है कि ८३ वर्ष की अवस्था में सन १८६५ ई० म सीताराम का स्वर्गवास हुआ था।

आश्रयदाता

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि सीताराम को नागपुर के परसोजी भोंसले का राजाश्रय था। 'उक्तिविलास' के आरम्भ म सीताराम ने अपने दूसरे आश्रयदाता के सबध म इस प्रकार उल्लेख किया है—

(१) छितिपति नाना के सुवन बड़ो साहु महाराज।
कीरति बसुधा म प्रगट सब भूपन सिरताज॥

(२) तिन हित सीताराम कियो।
मोह सा अहह सस म निधि और राग ॥[2]

इन छदों से ज्ञात होता है कि सीताराम ने 'उक्तिविलास' की रचना जिनके लिए की थी वे महाराज राजाओं म श्रेष्ठ, बलवान तथा कीर्तिवान थे और व 'नाना' के सपुत्र थे। इन छदों म कवि ने स्पष्ट रूप से आश्रयदाता का नाम नहीं लिखा और यदि लिखा भी हो तो खडित अश म रहा होगा जिसको पढा नही जा सकता। इसलिए अन्य साधनो का आश्रय लेना आवश्यक हो जाता है। प० प्रयागदत्त शुक्ल ने इनको नागपुर के रघोजी भोंसला, तृतीय माना है और साथ मे यह भी कहा है कि ये नाना अप्पाराव के पुत्र थे।[3] उक्तिविलास की रचना नागपुर के रघोजी तृतीय के लिए हुई

---

१ नागपूरकर भोसल्याची बखर—का० य० गुप्ते (सन् १९३६ ई०), पृ० २३३
२ उक्तिविलास १।७ और ८
३ हिन्दी साहित्य को विदर्भ की देन पृ० १०१

थी, यह कथन तकसंगत ही प्रतीत होता है। परन्तु रघोजी ततीय नाना महेरराव के पुत्र थे यह कथन इतिहास से मेल नहीं खाता।[1]

रचनाकाल

उक्तिविलास के अन्त मे कवि ने रचनाकाल विषयक जो पुष्पिका दी है वह इस प्रकार है—

इति श्री मोतीरामात्मज सीताराम महापात्रे विरचिते—
उक्तिविलासे सृगार प्रसगे तृतीयो प्रकाश सपूण ।।
सम्वत १८९३ शके १७५८ दुमुखनाम सवत्सरे पौष
शुक्ल पचम्या सौम्य वासर तद्दिने इद ग्रथ समाप्त ।।

इससे स्पष्ट होता है कि 'उक्तिविलास' की समाप्ति १८९३ शके १७५८ के पौष मास की शुक्ल पचमी को सोमवार का हुई थी।

उक्तिविलास के तीन प्रकाश हैं जिनके क्रमश 'भक्तिप्रसग', 'प्रस्ताव प्रसग' तथा 'शृगार प्रसग' ये नाम रखे गए हैं। प्रथम प्रकाश मे ११५ दोहे तथा सोरठे हैं जिनमें भक्तिविषयक विचारधारा व्यक्त की है। आरम्भ मे शृगार, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, बीभत्स, अद्भुत आदि रसो मे भक्ति के कुछ उदाहरण देकर बाद मे भक्ति के विभिन्न अगों का विवरण दिया है। विवरण मे अधिकाश उदाहरण कृष्ण के मिलते हैं। भगवान की कृपा प्राप्त करने के लिए प्रह्लाद आदि भक्तों के उद्धार का स्मरण कराया है। भक्ति के अतगत ईश्वर की महत्ता आदि के विवेचन म 'गीता' का प्रभाव स्पष्टत दृष्टिगत होता है। कवि का कृष्ण प्रेम कितना दृढ तथा तीव्र है उसकी कल्पना निम्नलिखित छदों से सहज हो सकती है—

१ ब्रह्मलोक, शोवलोक अरु इन्द्रलोक पुनि साय।
नागलोक अलकावती ब्रजसमान नहि कोय।।

२ इन्द्रपद जदपि मिल तिहु लोक को राज।
× × समा शीतल लख ब्रज में रहे विराज।[2]

द्वितीय प्रकाश मे जिसका नाम प्रस्ताव प्रसग रखा ह १२६ छद हैं। इसमे वक्रोक्ति अन्योक्ति, व्याघिकरणोक्ति, विशेषोक्ति, युक्तायुक्तालकार आदि पर सुन्दर छद हैं। द्वितीय प्रकाश म अधिकाश छदा म नीति तथा व्यवहार विषयक सूक्तियाँ हैं। विभिन्न उदाहरणा के साथ इन मधुर सूक्तियो की योजना की है जिसस काव्य मे अधिक माधुय आ गया है। कुछ सूक्तिया द्रष्टव्य हैं—

नहि सुगध जा फूल में नहि पराग मकरद।
अली कलो चित क्यों रचै तजि सौरभ अरविंद।।

---

१ विस्तत विवेचन के लिए देखिए पूना विश्वविद्यालय से प्रकाशित तथा डॉ० कृष्ण दिवाकर द्वारा सम्पादित सीताराम महापात्र विरचित 'उक्ति विलास'

२ उक्तिविलास प्रथम प्रकाश, ४९ तथा ५१ छद

बनी बनाई ना मिटे, कौन मिटावन हार।
गर्व किये रावण गयो हतो सिंधु के पार॥
जगत पियारो लक्षमी, भक्त पियारो राम।
बाझ पियारो पुत्र है बाय पियारो काम॥
लोहा लोहा एक सम तामे हैं द्वय भांति।
एक लोहा समसेर हैं एक लोहा भ धात॥[1]

इस प्रकार समस्त छदो म सामाजिक पक्ष भी महत्त्व का हो गया है। समाज के विभिन्न व्यक्तियो—स्त्री पुरुष, सज्जन दुजन, आदि की प्रवतिया का विवरण विभिन्न अलकारो के साथ देने का सफल प्रयत्न किया गया है। समाज मे स्थित विविध गुण दोष तथा प्रवतिया के विवेचन मे नीतिविषयक सत्पक्ष की उक्तियाँ भी पर्याप्त हैं। ग्रथ का 'उक्तिविलास' यह नामकरण साथक एव सारगर्भित है।

ततीय प्रकाश का नाम है शृगार प्रसग। इस प्रकाश का नाम ही वण्य विषय का परिचय करा देता है। इस प्रकाश मे कुल मिलाकर १०३ छद हैं। इसमें परपरानुसार नायिका भेद तथा नख शिख का वणन है। विशेष उल्लेखनीय बात यह है कि नायिका भेद तथा नख शिख जसे वणन के लिए भी सीताराम ने प्रथम दो प्रकाशो की भाँति दोहा तथा सोरठा जसे छोटे छदो का ही प्रयोग किया है। स्वकीया का यह उदाहरण द्रष्टव्य है—

सजल नैन मृदुबन लखि लसत मद मुसकान।
कजवदन मन भवन मन प्रेम परम सुखदान॥

नख शिख वणन के कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं—

१ तिल प्रसून तुन्नीर शुक छवि नासाकी ओर।
सखर निरखि न करि सक कि है जतन करोर॥
२ पुष्प प्राण प्यारी निरखि सौतिन के उरसाल।
मानो उपजे सग ही प्रफुलित कज सनाल॥
३ केलि समै प्रीतम पिया लाज लजाहूलि भजि।
मरूटो में लपटी रहति तन सकेत विराजि॥[2]

भाषा-शैली और छद-योजना

काव्य के भावों की अभिव्यक्ति भाषा के माध्यम से होती है और उस भावाभिव्यक्ति को लयबद्ध एव नादमधुर बनाने का काय छद करते हैं। काव्य-सौन्दय के विभिन्न घटकों में कवि द्वारा प्रयुक्त भाषा-शैली और छद का भी बहुत महत्त्व होता है। काव्य के अध्ययन म काव्य की भाषा का शास्त्रीय एव व्याकरणिक

१ उक्तिविलास, द्वितीय प्रकाश, छद ३, ३१, ३२, १०९
२ उक्तिविलास, तृतीय प्रकाश छद २३, ५२, ६२, ३३

अध्ययन अपेक्षित नहीं होता। पृष्ठों की परिमित सीमा में लिखित उक्तिविलास की परिचयात्मक भूमिका में यह संभव भी नहीं है। सीताराम महापात्र ने उक्तिविलास के लिए तत्कालीन लोकप्रिय तथा प्रातिनिधिक ब्रजभाषा का ही प्रयोग किया है। अत ब्रजभाषा की समस्त विशेषताएँ इसमें विद्यमान हैं। कवि ने भावों तथा प्रसंगों के अनुकूल शब्द योजना की है। शब्दावली को देखने पर स्पष्ट दिखाई देता है कि इसमें संस्कृत के तत्सम, अर्धतत्सम तथा तद्भव शब्दों के अतिरिक्त न्यूनाधिक मात्रा में प्राकृत, अपभ्रंश, अरबी, फारसी के भी शब्द प्रयोग मिल जाते हैं। यत्र तत्र बुंदेली तथा अवधी भाषा के शब्दों का उपयोग भी कवि ने किया है। सीताराम ने अपने भावों को व्यक्त करने के लिए प्रचलित मुहावरों का भी अनेक बार प्रयोग किया है। उदाहरण के लिए निम्नलिखित प्रयोग द्रष्टव्य हैं—

१ गरजत किलकारी करें काल सीस पर आइ।

२ घायल सी घूमत फिरे छतिया धरकत बाम।

३ भवजल अगम अथाह में निगुरा गोता खाय।

४ लखि वह छबि छकि रहे जक न लग दिनरात।

उक्तिविलास में अधिकांश रूप में दोहा और सोरठा छंदों के प्रयोग मिलते हैं। कवि ने बिहारी की भाँति गंभीर भावों की अभिव्यक्ति भी इन छोटे छंदों के माध्यम से की है। इसमें कवि का भाषा प्रभुत्व तथा अभिव्यक्ति कौशल दृष्टिगोचर होता है। दोहों और सोरठा के अतिरिक्त यत्रतत्र कुंडलिया, छप्पय कवित्त आदि छंद भी मिलते हैं परन्तु अत्यल्प मात्रा में।

हिंदी साहित्य में सीताराम का स्थान

उक्तिविलास ग्रंथ की रचना रीतिकाल के अन्तिम चरण में हुई है अत इस पर पूर्ववर्ती रीति ग्रंथों के रचयिताओं का प्रत्यक्ष वा अप्रत्यक्ष प्रभाव रहना स्वाभाविक है। उक्तिविलास पर बिहारी की परंपरा का प्रभाव अधिक मात्रा में दृष्टिगोचर होता है। कवि ने ग्रंथ का जो नामकरण किया है वह उसकी सूझता का द्योतक है। इसमें कवि की उक्तियों का वास्तविक विलास दिखायी देता है। इसमें भक्ति, नीति व्यवहार, नख शिख, नायिकाभेद, अलंकार रस तथा ऋतुवर्णन सब कुछ एक साथ ही विद्यमान है। कवि की प्रतिभा, भाषा प्रभुत्व काव्यकौशल, अभिव्यक्ति की शैली आदि बातों से अनुमान होता है कि सीताराम महापात्र ने उक्तिविलास के अतिरिक्त अन्य ग्रंथों की भी रचना अवश्य की होगी। इस दिशा में अधिक खोज करना अत्यन्त आवश्यक है। उक्तिविलास की भाँति उनके अन्य ग्रंथों का भी पता लग जाय तो हिन्दी साहित्यसागर अवश्य ही अधिक समृद्ध होगा। हिन्दी साहित्य के इतिहासों में रीतिकालीन प्रमुख कवियों की चर्चा के प्रसंग में सीताराम महापात्र को भी अवश्य स्थान मिलना चाहिए।

७ | मराठा शासक नृपशंभु का हिन्दी काव्य

रीतिकालीन हिन्दी कवियों में 'नृपशंभु' का नाम भी विशेष उल्लेखनीय है। हिन्दी साहित्य के कुछ इतिहासों में इनका जो परिचय मिलता है वह अत्यन्त संक्षिप्त एवं भ्रामात्मक है। नृपशंभु का सर्व प्रथम उल्लेख 'शिवसिंह सरोज' में पाया जाता है और परवर्ती साहित्यकारों ने सरोज के आधार पर नृपशंभु का परिचय दिया है। डा० शिवसिंह सेंगर ने[१] इनका उपस्थिति-काल अर्थात् कविता-काल सं०१७३८ (सन् १६८१ ई०) मानते हुए लिखा है कि ये महाराज कवि कोविदों के कल्पवृक्ष महान कवि हो गये। शृंगार रस वर्णन इनका निराला है। नायिका भेद का इनका ग्रन्थ सर्वोपरि है। डॉक्टर ग्रियर्सन ने[२] तथा एफ० ई० के[३] ने इनका उपस्थिति काल सन् १६५० ई० के पास माना है। डॉक्टर विजयेन्द्र स्नातक[४] ने, 'हिन्दी साहित्य के बृहद् इतिहास' में नृपशंभु का जन्म सं० १७३८ (सन् १६८१) में माना है। इन सभी इतिहास लेखकों ने नृपशंभु को सितारा गढ़वाले राजा शम्भुनाथसिंह सुलंकी कहा है जो शिवसिंह सरोजका अनुगमन मात्र है।

हिन्दी साहित्य के इतिहास में लिखित नृपशंभु का यह परिचय कल्पना तथा अनुमान पर ही अधिकतर समाश्रित दिखायी देता है। शिवसिंह सेंगर ने भूषण के आश्रयदाता शिवाजी को भी, शिवराज सुलंकी कहा है। इतिहास से यह स्पष्ट है कि भूषण के आश्रयदाता शिवाजी भोसला थे न कि सुलंकी। ठीक यही भ्रान्ति नृपशंभु के सम्बन्ध में भी हुई है। अनुसंधान में प्राप्त सामग्री से यह स्पष्ट होता है कि ये 'नृपशंभु' महाराष्ट्र के प्रसिद्ध मराठा शासक छत्रपति शिवाजी के सुपुत्र संभाजी ही थे। प्रसिद्ध इतिहासकार मुन्शी देवी प्रसादजी ने भी नृपशंभु को शिवाजी के पुत्र संभाजी भोंसले ही माना है।[५] नृपशंभु द्वारा रचित किसी भी रचना में कहीं भी सितारा

१ शिवसिंह-सरोज, कवि संख्या ८३७
२ हिन्दी साहित्य का प्रथम इतिहास—डॉ० किशोरीलाल गुप्त पृष्ठ १५८
३ हिन्दी लिटरेचर—एफ० ई० के० पृ० ४२
४ हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास (षष्ठ भाग), पृ० ५३३
५ मतिराम ग्रंथावली—संपादक कृष्ण बिहारी मिश्र, पृ० २५१

गढवाले राजा शभूनाथ सुलकी' का उल्लेख सब नहीं है। प्रत्युत नपशभु शभुराज, शभुकवि, सभकवि, सभराज, समाज आदि नामो की छाप मिलती है जो शभुराज अथवा समाजी के ही नाम हैं। इन रचनाओं म कई स्थानों पर ऐसे उल्लेख भी मिलते हैं जो सभाजी के जीवन का कुछ घटनाओं की ओर सकेत करते हैं। मराठो के इतिहास म भी इस बात का स्पष्ट उल्लेख मिलता है कि समाजी ने सस्कृत काव्य के अतिरिक्त नायिका भेद और नखशिख नामक हिन्दी काव्यों की भी रचना की है।[1] अत ये स्पष्ट हो जाता है कि शिवाजी के पुत्र समाजी का ही साहित्यक नाम नपशभु था। इतिहास के अनुसार इनका जीवनकाल सन् १६५७ ई० से सन् १६८९ ई० तक था। अत निश्चित हो जाता है कि सन् १६५७ ई० के पूव इनकी ज म तिथि नहीं हो सकती। डॉक्टर विजे द्र स्नातक ने नपशभु का जीवनकाल सन १६८१ ई० (स०१७३८ वि०) लिखा है वह असत्य प्रतीत होता है। सम्भवत अनक इतिहासकारों की भांति, सरोज मे लिखित 'उ०' का अथ उ होने ठीक से ग्रहण नहीं किया और इसी के परिणाम स्वरूप उ होंने 'उ०' का अथ, उपस्थिति-काल, के स्थानपर, उत्पन्न काल' ले लिया। डा० शिवसिंह सेंगर न इनका उपस्थिति काल सन १६८१ ई० (स० १७३८ वि०) माना है जो अनेक दृष्टियो से तकसगत है। सभाजी का राज्याभिषेक सन १६८१ म हुआ उसके पश्चात व, नप हुए। अत नपशभु का शिवसिंह सरोज द्वारा लिखित उपस्थिति-काल उचित ही है।

प्रामाणिक सामग्री के अभाव में प्रचलित तथा कल्पित एवम निराधार किम्व दतियो के आधार पर अनेक इतिहासकारो ने "शभुराज' को विलासी, अत्याचारी दुराचारी, दुव्यसनी के रूप म प्रस्तुत किया था पर तु सम्भाजी के समकालीन पत्र व्यवहार, उपलब्ध ग्र थ तथा अनुसधान में प्राप्त सामग्री के कारण सम्भाजी का वास्तविक महान चरित्र जानने म सहायता हो रही है। कुछ इतिहासकारो एवम साहित्यकारो ने समाजी के चरित्र को नई सामग्री के आधार पर नई दिशा देने का प्रशसनीय प्रयत्न किया है।

छत्रपति सभाजी न केवल पराक्रमी, राजनीतिज्ञ एव कत त्वसम्पन्न शासक ही थे वरन् वे एव उत्कृष्ट तथा सहृदय कवि भी थे। जिस प्रकार सभाजी का वास्तविक राजकीय व्यक्तित्व प्रामाणिक सामग्री के अभाव मे आजतक अज्ञात रहा था उसी प्रकार सभाजी का साहित्यिक व्यक्तित्व भी पूणत प्रकाश म नहीं आया था पूवग्रहदूषित दृष्टिकोण से शभुराज के चरित्र की ओर देखने वालो ने उनकी साहित्यिक कृतियो की ओर विशष ध्यान नहीं दिया और जो दिया वह उनकी त्रुटित एव स्फुट कविता के आधार पर उन्हें विलासी सिद्ध करने के लिए।

सभाजी की अधिकांश रचनाएँ शृगार प्रधान हैं। इसका अथ यह तो नहीं होता कि सभाजी केवल विलासी ही थे। कतृ त्व-सम्पन्न एव पराक्रमी व्यक्ति श

१ दि हिस्ट्री आफ मराठा पीपुल भा २—किंकेड, पारसनीस, पृ० २८

जीवन म फुरसत के समय यदि शृगार या विलास का आगमन होता है तो वह दूषण नही भूषण सिद्ध होता है। सभाजी का विलास कायरो तथा भीरुओ का दुर्बल विलास न था बल्कि एक पराक्रमी राजनीतिज्ञ एव कर्तृत्वसपन्न व्यक्ति का सबल विलास था। बाल्यावस्था से ही राजनीति के साथ-साथ काव्यालकार, शास्त्र, पुराण, सगीत आदि के अध्ययन से साहित्य के प्रति उनकी विशेष अभिरुचि बढ़ी। जीवन के पूर्वार्द्ध म उत्तर भारत एव मुगलो की छावनी म रहने के कारण वहाँ के विलासी एव ऐश्वर्यमयी वातावरण का प्रभाव सभाजी पर होना स्वाभाविक ही था। विलासी एव शृगारिक प्रवृत्ति होने पर राजनीतिक क्षेत्र में भी सभाजी ने जो प्रशसनीय काय किया उसस स्पष्ट हो जाता है कि सभाजी विलासी वृत्ति के दास कभी नही बने थे, उल्टे जीवन की सध्या मे उनकी प्रवृत्ति धर्म तथा अध्यात्म की ओर दिखाई देती है। सभवत इसी प्रवृत्ति ने उन्हे मृत्यु के समय स्थितप्रज्ञ बनाया था।

नृपशभु अर्थात सभाजी के अबतक चार ग्रथ उपलब्ध हुए हैं जिनमें एक सस्कृत का और तीन हिंदी के हैं। बुधभूषण नामक उनका सस्कृत ग्रथ भाडारकर प्राच्यविद्या मदिर से प्रकाशित हुआ है। हिंदी ग्रथो म अतगत नखशिख, नायिकाभेद एव सातसतक ग्रथ आ जाते हैं। इस लेख मे नपशभु के हिंदी काव्य ग्रथो का ही सक्षिप्त परिचय मात्र दिया जा रहा है।

नख शिख

हिन्दी साहित्य म प्रचलित परम्परा के अनुसार ही इस ग्रथ की रचना है। इस ग्रथ की सम्पूण हस्तलिखित प्रति नागरी प्रचारिणी सभा काशी म उपलब्ध है। नखशिख का बहुत सा अश बाबू जगन्नाथदास 'रत्नाकर' ने 'साहित्य सुधा निधि' म प्रकाशित किया था। परन्तु उस समय उन्ह सम्पूण ग्रथ प्राप्त नही हो सका था। इस ग्रन्थ का उल्लेख इतिहासकारो तथा अन्य विद्वानो ने बार बार किया है परन्तु सम्पूण ग्रन्थ की प्राप्ति के अभाव से अथवा अन्य किसी कारण से इस ग्रथ के अन्तरग की ओर किसी का विशेष ध्यान नही गया। मैंने इसकी मूल प्रतियां की खोजकर उसका विशेष अध्ययन प्रस्तुत किया है। यहाँ केवल ग्रथ का स्वरूप परिचय के रूप म दिया जा रहा है। इस ग्रथ म कुल मिलाकर १३६ छद हैं। इसम अधिकाश रूप म कवित्तो और सवयो का ही प्रयोग मिलता है। कहीं-कहीं दोहा तथा छप्पय छद के प्रयोग भी मिलते हैं परन्तु अत्यल्प मात्रा म। ग्रथ म रचनाकाल नही दिया गया है। सभव है कि समय-समय पर नप शभु द्वारा रचित नखशिख विषयक छदो को बाद मे सकलित किया गया हो और इसी कारण उसमे ग्रथ समाप्ति दशक दोहा या दशक छद नही मिलता। प्रतिलिपिकार ने भी अपना नाम नही दिया। इसका लिपिकाल स० १८०० वि० है। नपशभु की कविता म अलकार योजना की परिपाटी ठीक वसी ही मिलती है जसी देव, मतिराम पद्माकर आदि रीतिकालीन कवियों की थी। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि नपशभु ने हिंदी के इन कवियो की रचनाएँ पढी होंगी। इनकी कविता में हृदय के भावो के चित्र एव मार्मिक अनुभूतियो की अपेक्षा बाह्य

वस्तुओं का वर्णन दिखायी देता है। कहीं कहीं प्राचीन परम्परा की पिटी हुई लकीर को छोड़कर नृपशम्भु ने नये उपमान के सहारे आकर्षक चित्र भी प्रस्तुत किए हैं। उदाहरण के रूप में निम्नलिखित नाभि का वर्णन द्रष्टव्य है—

रूप को कूप बखानत है कवि कोऊ तलाब सुधा ही के संग को ॥
कोऊ तुरुक मोहारि कहै दहला कल्पद्रुम भाषत अंग को ॥
बार ही बार विचार कियो नृपशम्भु नया मत मो मति ढंग को ॥
सीसी उरोजनि तें मदधार रूमावली नाभी न प्याला अनंग को ॥

इसमें परंपरागत उपमानों को छोड़कर उरोजों को मदिरा की शीशी, रोमावलि को मदिरा की धार और नाभि को मदिरा का प्याला कहा है। काव्य में प्रयुक्त नयामत मो मति ढंग को नृपशम्भु की विशिष्ट दृष्टि का द्योतक है जिससे उनकी उद्भावना शक्ति का परिचय होता है।

नायिका भेद

इस ग्रंथ में स्फुट छंद ही प्राप्त होते हैं। छंदों को देखकर स्पष्ट होता है कि ये किसी संपूर्ण ग्रंथ के छंद ही होंगे। बहुत प्रयत्न करने पर भी मुझे नायिका भेद की संपूर्ण प्रति प्राप्त न हो सकी। इस ग्रंथ के उपलब्ध छंदों से नृपशम्भु की कवित्व शक्ति तथा काव्य सौन्दर्य की प्रतीति होती है। नायिका भेद का निम्नलिखित उदाहरण द्रष्टव्य है—

सासु कह्यो दधि बेंचन को
सुदई सुखदाई कहाँ ते धौं हाकरी।
मोहि मिले 'नृपशम्भु' गुपाल
समाल तरे वह गैल जो साँकरी।
मो तन ताकि बड़ी अखियान तें
कौकरी स फिरि मोमन धाकरी।
काकरी ओढ़ि लई कर तें पै
करे जें कहाँ धौं गई गड़ि काकरी।

यह ग्रंथ सम्पूर्ण रूप से प्राप्त न होने से इसके रचनाकाल तथा लिपिकाल के संबंध में निश्चयपूर्वक कुछ कहना कठिन है। नायिकाभेद के पदों में 'नृपशम्भु' की जो छाप मिलती है उससे स्पष्ट होता है कि इनकी रचना सम्भा जी के 'नृप' हो जाने के पश्चात हो गई थी। नृपशम्भु का शासनकाल सन १६८१ से १६८९ तक था। अतः नायिकाभेद की रचना इनके बीच संभव है।

सातसतक

नृपशम्भु का यह ग्रंथ प्रथम बार ही विद्वानों के समक्ष आ रहा है। किसी भी ग्रंथ में नृपशम्भु द्वारा लिखित सातसतक ग्रंथ का नामोल्लेख भी नहीं है। मैंने यह ग्रंथ काशी नागरी प्रचारिणी सभा के हस्तलिखित संग्रह में प्राप्त किया। इस ग्रंथ में

जीवन में फुरसत के समय यदि शृंगार या विलास का आगमन होता है तो यह दूषण नहीं भूषण सिद्ध होता है। सभाजी का विलास कायरों तथा भीरुओं का दुर्बल विलास न था बल्कि एक पराक्रमी राजनीतिज्ञ एवं वस्तुतः सम्पन्न व्यक्ति का सबल विलास था। बाल्यावस्था से ही राजनीति के साथ-साथ काव्यालंकार, शास्त्र, पुराण, संगीत आदि के अध्ययन से साहित्य के प्रति उनकी विशेष अभिरुचि बढ़ी। जीवन के पूर्वार्द्ध में उत्तर भारत एवं मुगलों की छावनी में रहने के कारण वहाँ के विलासी एवं ऐश्वर्यमयी वातावरण का प्रभाव सभाजी पर होना स्वाभाविक ही था। विलासी एवं शृंगारिक प्रवृत्ति होने पर राजनीतिक क्षेत्र में भी सभाजी ने जो प्रशंसनीय कार्य किया उससे स्पष्ट हो जाता है कि सभाजी विलासी वृत्ति के दास कभी नहीं बने थे उल्टे जीवन की संध्या में उनकी प्रवृत्ति धर्म तथा अध्यात्म की ओर दिखाई देती है। संभवतः इसी प्रवृत्ति ने उन्हें मृत्यु के समय स्थितप्रज्ञ बनाया था।

नृपशंभु अर्थात् सभाजी के अबतक चार ग्रंथ उपलब्ध हुए हैं जिनमें एक संस्कृत का और तीन हिंदी के हैं। बुधभूषण नामक उनका संस्कृत ग्रंथ भांडारकर प्राच्यविद्या मंदिर से प्रकाशित हुआ है। हिंदी ग्रंथों के अंतर्गत नखशिख, नायिकाभेद एवं सातसतक ग्रंथ आ जाते हैं। इस लेख में नृपशंभु के हिंदी काव्य ग्रंथों का ही संक्षिप्त परिचय मात्र दिया जा रहा है।

नख शिख

हिंदी साहित्य में प्रचलित परम्परा के अनुसार ही इस ग्रंथ की रचना है। इस ग्रंथ की सम्पूर्ण हस्तलिखित प्रति नागरी प्रचारिणी सभा काशी में उपलब्ध है। 'नखशिख' का बहुत सा अंश बाबू जगन्नाथदास 'रत्नाकर' ने 'साहित्य सुधा निधि' में प्रकाशित किया था। परन्तु उस समय उन्हें सम्पूर्ण ग्रंथ प्राप्त नहीं हो सका था। इस ग्रंथ का उल्लेख इतिहासकारों तथा अन्य विद्वानों ने बार बार किया है परन्तु सम्पूर्ण ग्रंथ की प्राप्ति के अभाव से अथवा अन्य किसी कारण से इस ग्रंथ के अन्तरंग की ओर किसी का विशेष ध्यान नहीं गया। मैंने इसकी मूल प्रतियों को खोजकर उसका विशद अध्ययन प्रस्तुत किया है। यहाँ केवल ग्रंथ का स्वरूप परिचय के रूप में दिया जा रहा है। इस ग्रंथ में कुल मिलाकर १३६ छंद हैं। इसमें अधिकांश रूप में कवित्त और सवैयों का ही प्रयोग मिलता है। कहीं-कहीं दोहा तथा छप्पय छंद के प्रयोग भी मिलते हैं परन्तु अत्यल्प मात्रा में। ग्रंथ में रचनाकाल नहीं दिया गया है। संभव है कि समय-समय पर नृप शंभु द्वारा रचित नखशिख विषयक छंदों को बाद में संकलित किया गया हो और इसी कारण उसमें ग्रंथ समाप्ति दर्शक दोहा या दर्शक छंद नहीं मिलता। प्रतिलिपिकार ने भी अपना नाम नहीं दिया। इसका लिपिकाल सं० १८०० वि० है। नृपशंभु की कविता में अलंकार योजना की परिपाटी ठीक वैसी ही मिलती है जैसी देव मतिराम पद्माकर आदि रीतिकालीन कवियों की थी। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि नृपशंभु ने हिंदी के इन कवियों की रचनाएँ पढ़ी होंगी। इनकी कविता में हृदय के भावों के चित्र एवं मार्मिक अनुभूतियों की अपेक्षा बाह्य

भी बुधभूषण नायिका भेद, नखशिख आदि ग्रंथो की भांति नखशभु, सभुराज, सभाजू, शभुराज आदि की छाप स्पष्ट रूप से मिलती है। पूववर्ती ग्रथो की अपेक्षा इस ग्रंथ का विषय सवथा भिन्न है। इसमे कुल मिलाकर सौ छद हैं जिनमे प्रारम्भिक मात छद प्रस्ताविक रूप में हैं। इन छदो में गणेश, कमला, सीता, राम आदि की प्रशसा है। ग्रथ के आरम्भ म कवि ने अपना उद्देश्य भी दिया है। ग्रथ के प्रतिपाद्य विषयो का सकेत निम्नलिखित छद म दिया गया है—

उपालम्भ कहि विनै कहि जगत सीख कहि ध्यान।
ब्रह्म निरूपन करत कह्यो जाते बाढत ग्यान॥

इस प्रकार समस्त ग्रथ उपालभ, विनय, जगतसीख, ध्यान तथा ब्रह्मनिरूपण अथवा ब्रह्मविचार इन पाँच शीषकों मे विभाजित किया गया है। अन्य ग्रथो की भाँति इस ग्रथ का रचनाकाल प्राप्त नही होता। नायिका भेद तथा सातसतक की प्रति लिपियो को देखकर ज्ञात होता है कि दोनो ग्रथो का लिपिकार एक ही है। उसने नखशिख की प्रतिलिपि स० १८०० वि० के चत्र मास म पूण कर पाँच ही महीनों म अर्थात स० १८०० वि० के भाद्रपद मास म सातसतक की प्रतिलिपि पूण की थी।

अब तक अज्ञात सातसतक' ग्रथ ऐतिहासिक दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण सिद्ध होगा। इस ग्रथ म व्यक्त विचारों तथा उल्लेखो को देखकर सभाजी के उत्तर चरित्र पर कुछ प्रकाश पड जाता है। सभाजी के शासन काल के दो अंतिम वर्षों म सभाजी के चरित्र मे वह राजनीतिक तीव्रता क्यो नही दिखायी देती और औरगजेब द्वारा जीवितावस्था म अपने शरीर मे असह्य अमानुष अत्याचार होने पर भी स्वधम के लिए हँसते हँसते मत्यु को आलिगन देने वाले राजा सभाजी के जीवन का रहस्य खुल जाता है। 'सातसतक' मे सभाजी के धार्मिक आध्यात्मिक एव वैराग्यपरक विचार देखकर अनुमान होता है कि जीवन के प्रारभ मे माता की मत्यु होने स मातसुख का अभाव, पिता के साथ नौ वष की अवस्था म आगरा जाना, बदीगह म रहना, मुक्त होने पर भी इलाहाबाद मे अपरिचित परिवार मे रहना, विद्याध्ययन करना दूर दूर की यात्राओ के कष्ट तथा प्रेम का एकमात्र सहारा जिजाबाई का स्वगवास, उसके पश्चात चार वर्षों के पश्चात ही पिता की मत्यु राजसिंहासन छिनने से तथा हत्या षडयन, राज्याभिषेक होने ही प्रारभ के लगभग छ वष सिद्दिया पोतुगीजो तथा प्रबल सम्राट औरगजेब के साथ युद्ध कर महाराष्ट्र की स्वाधीनता को परचक्र से बचाते रहना आदि एक से एक बढकर जीवन म आने वाली आपत्तियों के कारण सभाजी का मन लौकिक एश्वय से विरक्त हुआ हो और आध्यात्मिक क्षेत्र मे शाति पाने के लिए आकर्षित हुआ हो। इतनी आपत्तियो के बावजूद भी सभाजी का रसिक मन फुरसत के समय साहित्य का पढने तथा सजन करने म व्यस्त रहता था और सघषमय जीवन से कुछ समय के लिए दूर रहकर आनंदित हो जाता था। इतिहास स ज्ञात होता है कि रायगढ से विशालगढ की ओर जाने वाले रास्ते पर सगमेश्वर नामक एक स्थान के पास कविकलश ने और सभाजी ने कुछ मकान और बगीचे बनवाकर अपने

निवास का स्थान बनवाया था। कविकलश ने मन्त्रसिद्धि के लिए खास कर यह स्थान तथा एकांत स्थान चुना था। सन् १६८८ ई० की ग्रीष्म ऋतु में सभाजी इस स्थान पर रहे थे। इतिहास की इस घटना को देखकर प्रतीत होता है कि मृत्यु के एक-डेढ़ वर्ष पहले ही सभाजी में यह विरक्ति प्राप्त हुई थी।

'सातसतक' की रचना भी इसी समय हुई होगी। ग्रन्थ में कवि ने अपनी मृत्यु के समय के कुछ संकेत दिए हैं। कहीं-कहीं सभाजी ने अपने विलासी जीवन के प्रति पश्चाताप भी व्यक्त किया है। 'सातसतक' का निम्नलिखित छंद द्रष्टव्य है—

छत्र जग चमर तुरग अगनित सब एते।
पर मन माँ गरर गहिपतु है॥
असन बिहूने अग के बसन सूने रायो।
लोक निंदा भायो सुख मानि साहिअतु है॥
दूषन तुम्हें के देत मुगुध अचेत प्रभु
करि हो उहै वै जाको जसो चाहिअतु है॥
सम कोई महिपाल कहैं सुनिये गोपाल
हम हरि लाल तुम सौं निहाल रहिअतु है॥

सातसतक ग्रंथ की भाषा का परिचय उपयुक्त छंद से सहज ही हो जाता है। काव्य की दृष्टि से इस ग्रंथ का उतना महत्त्व नहीं है क्योंकि संपूर्ण ग्रन्थ का उद्देश्य सर्वथा भिन्न है।

नृपशंभु की हिन्दी कविता की परिष्कृत शब्दावली देखकर स्वभावतः यह शंका उठ सकती है कि मराठी भाषी होने पर भी नृपशंभु की भाषा इतनी शुद्ध एवं परमार्जित कैसे रही? कुछ समीक्षक तो कविकलश को ही इन ग्रंथों के वास्तविक रचयिता मानने के पक्ष में हो सकेंगे। परंतु समस्त रचना में जब तक ऐसा कोई प्रमाण नहीं मिलता तबतक केवल अनुमान करना भी उचित नहीं। स्थानाभाव में इसकी विस्तृत चर्चा यहाँ संभव नहीं है, फिर भी इसके संबंध में कहा जा सकता है कि सभाजी द्वारा प्रस्तुत की हुई हिन्दी रचनाओं को उनके काव्यगुरु कविकलश ने अवश्य ही संस्कारित किया होगा। नृपशंभु की हिन्दी कविताओं का विशेष विश्लेषण फिर कभी प्रस्तुत किया जायगा। इस लेख में नृपशंभु की हिन्दी रचनाओं का परिचय मात्र करा दिया गया है। आशा है कि हिन्दी के रीतिकालीन साहित्य में नृपशंभु की काव्य-कृतियों को समादृत किया जाएगा।

८ | रीतिकालीन साहित्य का पुनर्मूल्यांकन*

"रीति काव्य के प्रति उपेक्षा के संकेत तो आधुनिक युग के प्रथम चरण से ही मिलने लगे थे, परन्तु इसने द्विवेदी युग में एक कटु प्रतिक्रिया का रूप धारण किया। एक प्रकार से यह युग मर्यादावाद, आदर्शवाद और पुनरुत्थानवाद का था। पुनरुत्थान इस युग की मूल चेतना तो थी पर पश्चिम की नवीन दृष्टि की स्वीकृति भी एक सीमा तक थी चाहे वह औपचारिक ही हो। इसके द्वारा भारतीय काव्य समीक्षा के सिद्धान्त।

---

*[भारतीय हिंदी परिषद का बाईसवां वार्षिक अधिवेशन विक्रम विश्वविद्यालय के तत्वावधान में दिसम्बर १९६६ में बड़ी सफलता से सम्पन्न हुआ। उसमें हिन्दी भाषा तथा हिंदी साहित्य से सम्बन्धित विभिन्न महत्त्वपूर्ण विषयों पर विभिन्न रूपों में विचार विमर्श हुए जो अत्यन्त उपयोगी तथा ज्ञानवर्धक सिद्ध हुए। इस समय विचारगोष्ठियों के अन्तर्गत जो विषय थे उनमें 'रीतिकालीन साहित्य का पुनर्मूल्यांकन' भी एक विषय रहा। इसके अध्यक्ष डाक्टर विजयपालसिंह तथा प्रवर्तक डाक्टर भगीरथ मिश्र थे। इनके अतिरिक्त डा० नगेन्द्र पं० बलदेव उपाध्याय डॉ० विजयेन्द्र स्नातक, डा० रामकुमार वर्मा आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी डाक्टर हरवंशलाल शर्मा डा० कृष्ण दिवाकर डा० मनोहरलाल गौड़, डा० दशरथ ओझा आदि व्यक्तियों ने चर्चा में भाग लिया था। चर्चा अत्यन्त रोचक एवं नयी दिशा देने वाली रही। उस चर्चा के आधार पर यह लेख प्रस्तुत है जिससे परिषद के अधिवेशन में सम्मिलित न होने वालों को उसके प्रमुख स्वर का स्थूल परिचय हो सकेगा।

हिंदी के भक्ति कालीन साहित्य को स्वर्णयुगीन साहित्य कहकर उसको जितना गौरव तथा महत्त्व दिया गया उतना ही उपेक्षा भाव तथा हीनभाव रीतिकालीन हिन्दी साहित्य के प्रति दिखाया गया। पिछले कुछ वर्षों में किये गए शोध-कार्य द्वारा हिन्दी साहित्य के ऐसे अनेक अज्ञात कवि तथा उनका साहित्य प्रकाश में आया है कि उनके सन्दर्भ में समस्त हिन्दी साहित्य के इतिहास के पुनर्लेखन तथा पुनर्मूल्यांकन की आवश्यकता है। इस लेख में बहुचर्चित रीतिकालीन हिंदी साहित्य के पुनर्मूल्यांकन के सम्बन्ध में स्थूल रूप से चर्चा प्रस्तुत है।]

का नवीनीकरण हुआ। उनकी एकदेशीयता और गतानुगतिता के परित्याग की चेष्टा हुई। चाहे सैद्धान्तिक और व्यावहारिक समीक्षा का मान दण्ड वही रहा हो जो संस्कृत का था पर इसकी पुनर्स्थापना सुरुचि नैतिकता, सुधार भावना और राष्ट्रीय वशिष्ट्य के आधार पर हुई। भक्ति कालीन वैष्णव जीवन मूल्यों ने जहां राष्ट्रीय चेतना का स्पंदित किया, वहाँ इस युग की समीक्षा के मान दण्ड को भी एक महत्त्वपूर्ण आयाम प्रदान किया। इन सभी तत्त्वों ने प० रामचन्द्र शुक्ल के माध्यम से एक सुनिश्चित मानदण्ड मे अपनी परिणति पायी। आधुनिक समीक्षा द्वारा सामाजिक दृष्टि से पुन नियोजित इस नवोदित परिवेश मे भक्ति कालीन साहित्य की प्रतिष्ठा और रीति काव्य की उपेक्षा स्वाभाविक हो गयी।

''समीक्षा पद्धति अन्तर मूल्यों पर आधारित हो गयी, जिसमें कवि के उद्देश्य और काव्यगत उदात्तीकरण की सम्भावनाओ पर विचार किया जाता है। तुलसी इस दृष्टि से आदर्श बने। इन सभी कारणो से रीति काव्य के प्रति एक कटु प्रतिक्रिया हो उठी। सायास शिल्प की उपलब्धियो के स्थान पर वस्तुगत सौंदर्य अधिक महत्त्व-पूर्ण हो गया। अभिव्यक्ति की सहजता और आन्दोलन की कमठ छाया में पले आदर्श वाद की भूमिका मे रीतिकाव्य और तत्कालीन जीवन दृष्टि को स्थान मिलना प्राय असम्भव हो गया।

''यद्यपि इस युग के समीक्षकों की सदाशयता मे सन्देह करना कठिन है। फिर भी इस युग की मनीषिता पूर्वाग्रहो से नितान्त मुक्त न रह सकी। इसका प्रमाण यह है कि तुलसी-साहित्य के अतिरिक्त न शेष भक्ति कालीन साहित्य का ही मूल्यांकन हो पाया, न सन्तों के दर्शन और साहित्य को ही उपयुक्त निकष मिल सकी और न रीति कालीन साहित्य की उपलब्धियो पर ही ध्यान गया। यहाँ तक कि आधुनिक साहित्य के नवोन्मेषों का भी स्वागत और मूल्यांकन नही हो सका। एक पूर्वाग्रह ग्रस्त मान दण्ड के ये ही लक्षण होते हैं। किसी ने रीतिकाव्य को साहित्यिक गौरव का नाम दिया तो किसी ने रुग्ण मन का अनर्गल प्रलाप बताया। सभी को शिल्पछल से आच्छादित हृदय-हीनता ही छायावाद में मिली। आरोपित आदर्शवाद और नैतिकता ने साहित्य के एक समूचे युग को लांछित कर दिया। शुक्लजी जैसी मधा घनानन्द और मतिराम की भावात्मक एव कलात्मक स्फीतियो पर तो रीझती रही, पर यह वैयक्तिक रूप मे कुछ कवियो का चुनाव था, युग का सामूहिक प्रभाव तो ज्यो का-त्यों बना रहा।

' छायावादी समीक्षा-पद्धति मे प्रतिक्रिया की दिशा में परिवर्तन हुआ। अतीन्द्रिय सौंदर्य और लाक्षणिक अभिव्यंजना के इस युग चरण मे रीतिकालीन सौंदर्य दृष्टि को अति-ऐन्द्रिय और अभिव्यंजना को रूढि-ग्रस्त कहकर तिरस्कृत किया गया। यद्यपि छायावादी, 'प्रस्तुत' को रीतिकालीन 'अप्रस्तुत' ने पर्याप्त साज सज्जा की, पर उसकी वस्तु को सर्वथा स्थूल और ऐन्द्रिय कह कर धिक्कारा जाता रहा। प्रगतिवादी आलोक इसमें सामंतवादी मत तत्त्वों को ही पाता रहा। [१]

१ डॉ० विजयपाल सिंह के अध्यक्षीय भाषण का अंश

इस प्रकार "आधुनिक युग के प्रवेश के साथ इस काव्य के सम्बन्ध म दृष्टिकोण बदला और रीति कालीन काव्य विशेष रूप से रीतिकाव्य पर अनेक प्रकार के दोषा रोपण किये गये और यह काव्य नितान्त हेय एवम पतनान्मुख काव्य कहा गया तथा इसके प्रति घृणा और द्वेष का भाव जागृत किया गया। इसकी प्रतिक्रिया मे दूसरा मत इस प्रकार का निर्मित हुआ कि वास्तव म हिन्दी का रीतिकाव्य ही उत्कृष्ट काव्य है और अन्य धाराओ के काव्य इसकी तुलना मे निम्न कोटि के हैं। ये दोनो दृष्टिकोण राग द्वेष की भावना से युक्त कहे जा सकते हैं। अत आज इस बात की आवश्यता है कि हम रीति-काव्य का पुनर्मूल्याकन प्रस्तुत करें और यह भी जानने का प्रयत्न करें कि इस काव्य का महत्त्व क्या है ? साथ ही यह भी जानने का प्रयत्न करें कि इसमें किन तत्वो की कमी है। सामान्यत रीति काव्य पर जो दोष लगाये जाते हैं व इस प्रकार हैं—

(१) अश्लीलता।
(२) समाज को प्रगति देने की अक्षमता।
(३) आश्रयदाता की अतिशय प्रशसा।
(४) चमत्कार प्रियता।
(५) रूढ़िवादिता।"[1]

"यहाँ सक्षेप मे इन सभी पर विचार किया जाएगा। अश्लीलता की धारणा युग सापेक्ष्य तथा स्थल सापेक्ष्य है, अत एक ही वस्तु अथवा व्यक्तिरूप एक युग में अथवा देश म अश्लील कहा जा सकता है और दूसरे युग मे अथवा देश मे नहीं। भक्ति युग में ही सूरदास, नन्ददास, विद्यापति, जायसी सेनापति आदि के अनेक वर्णन ऐसे हैं जो रीति कालीन वर्णनो से अधिक अश्लील कहे जा सकते हैं। आधुनिक युग म भी इस प्रकार के वर्णनो का अभाव नही है जिन्हें अश्लील कहा जा सके। प्रकृतिवादी और प्रगतिवादी काव्यों तक म ऐसे वर्णन मिलते हैं जो हेय और अश्लील है। ऐसी दशा मे रीतिकालीन सौन्दर्य चित्रण के प्रसग म और विशेष रूप से नख शिख सौन्दर्य चित्रण म कतिपय अगो का यदि ऐसा वर्णन मिलता है जो आज अश्लीलता की सीमा मे आता है तो उसके आधार पर समस्त काव्य को लाछित करें यह उपयुक्त नही है।'[2]

'मानव मन के विश्लेषण और उसकी काम वृत्ति की विरल अभिव्यक्ति को ध्यान म रखकर रीति कालीन शृगार का पुनर्विचार सभव हो गया। वयक्तिक और सामूहिक मन की इतनी काम छायाएँ एकत्र कहाँ मिलेंगी ? साथ ही, आज के बहुविध विकसित सौन्दर्य शास्त्र की दृष्टि से रीति कालीन शिल्प और सौन्दर्य की सधारणाओ का विश्लेषण सभव है।[3] साथ ही इस बात को भी नहीं भूलना चाहिए कि रीति कालीन

---

१ डा० भगीरथ मिश्र के प्रवचन भाषण का अश
२ डॉ० भगीरथ मिश्र के प्रवचन भाषण का अश
३ डॉ० विजयपाल सिंह के अध्यक्षीय भाषण का अश

काव्य का अवतरण अकस्मात नये रूप मे नही हुआ वल्कि वह पूर्ववर्ती परम्परा से निस्सृत है। संस्कृत, प्राकृत, और अपभ्रंश में शृंगार मुक्तकों की परम्परा चलती ही रही।" हिंदी के आदिकालीन वीर काव्यों में तथा भक्ति कालीन साहित्य मे न्यूनाधिक मात्रा में इस परम्परा के दर्शन सहज ही किये जा सकते हैं। परम्परा के इन सभी पूर्ववर्ती सूत्रों की इकाई के रूप मे स्वीकार और प्रतिष्ठित करके रीति-काव्य के पुनर्मूल्यांकन की आवश्यकता है।

"दूसरा दोष इस युग के काव्य पर लगाया जाता है कि वह (साहित्य) समाज को प्रगति की प्रेरणा नही देता। यह लांछन भी बहुत ठीक नही है। जहाँ तक रीति-काव्य का प्रश्न है वहाँ तक यह कहा जा सकता है कि उसका प्रमुख क्षेत्र शृंगार रहा, परन्तु रीति-काव्य के अंतर्गत भी वीरता, भक्ति और नीति से युक्त रचनाएं मिलती हैं। रीति-काव्य के उस युग मे अन्य काव्य धाराएँ भी प्रवाहित थी जिनके अंतर्गत आध्यात्मिक तथा लौकिक जीवन को प्रेरित करने की शक्ति थी। यह नहीं कहा जा सकता कि रीति युग का काव्य जीवन और उसकी प्रगति से विमुख था वरन् इसके विपरीत यह सत्य है कि वह काव्य पूर्ववर्ती भक्ति युग के काव्य से अधिक लोक-जीवनाभिमुखी है। भक्ति काव्य का वास्तव में बहुत अधिक विस्तार इस युग में हुआ। संतसाहित्य के अनेक पंथ इस युग में अधिक प्रचलित हुए। सुन्दरदास, रज्जब, यारी पलटू प्राणनाथ, जगजीवनदास, चरनदास, दरिया, शिवनारायण तुलसीसाहब हाथरस वाले आदि हैं। इसी प्रकार जानकासिम शाह, नूरमोहम्मद, शेख निसार आदि निर्गुणोपासना की सूफी काव्य धारा के बहुसंख्यक प्रमुख कवि इसी रीति युग में हुए। सगुण भक्ति धारा के अंतर्गत कृष्ण भक्ति और राम भक्ति से सम्बन्धित असंख्य रचनाएँ इस युग में प्राप्त होती हैं। इस युग का नीति काव्य भी कम समृद्ध नही है। अनेक कवियो ने जीवन के निर्देश करने वाले सुन्दर मुक्तक तथा दुराचरण पर प्रहार करने वाले हास्य व्यंग्य काव्य लिखे हैं जो सामाजिक निर्माण और प्रगति को संचालित करने वाला काव्य है। कई लोगो ने अन्योक्तियों द्वारा सुन्दर और मार्मिक नीति काव्य प्रस्तुत किया है। इन सब बातो का विचार करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि इस युग के काव्य में समाज को प्रगति देने की क्षमता थी।

'आश्रयदाता की अतिशय प्रशंसा करने की प्रवृत्ति भी रीतिकालीन साहित्य का एक दोष माना जाता है। यह दोष भी आंशिक रूप से ही स्वीकार किया जा सकता है और उस युग के लिए कला और काव्य के संरक्षण के लिए आश्रयदाता की प्रशंसा आवश्यक भी थी। उस समय यदि कविता संगीत, चित्र आदि कलाओं को राजाश्रय प्राप्त न होता तो इनका विकास तो रुक ही जाता, साथ ही ये सुरक्षित भी नहीं रह सकती थीं। अतएव थोड़ी-बहुत प्रशंसा द्वारा उस समय के कवियों और कलाकारों ने राजाओं और सामन्तों से कलात्मक और साहित्यिक विकास का परियापण प्राप्त किया। इसके अतिरिक्त समस्त प्रशंसा नितांत असत्य भी नही है भले ही उसमे अतिशयोक्ति न्यूनाधिक मात्रा में रही हो। यदि कुछ कवियों की रचनाओं में यह प्रशंसा असत्य भी रही हो तो

ऐसे कवियों की संख्या कितनी अल्पस्प है यह देखना भी आवश्यक है। अत युगीन परिस्थिति के परिवेश म इस बात का पुनर्विचार आवश्यक है।

"रीतियुगीन काव्य म चमत्कार प्रदान दानकर भी उस हय कोटि का ठहराने का प्रयत्न हुआ। इसके लिए भी युगीन विशेष स्थिति ही कारण रही है। इस सामन्त युग में अधिकांश कवि दरबार से सबद्ध रहे हैं। एक दरबार स दूसरे दरबार में भी इन्हें आना-जाना पड़ता था। अपनी रचनाएँ सुनाकर श्रोताओं के बीच उपस्थित अन्य कवियो की स्पर्धा म अपने को श्रेष्ठ ठहराने की ईर्ष्या उनम थी। अत चमत्कार प्रियता उनमे स्वभावत भिद गयी थी। यह चमत्कार प्रदर्शन उनकी प्रतिभा का एक भाग था। इसके परिणामस्वरूप हम रीति काव्य के अन्तगत चमत्कारिक रचनाएँ अधिक मिलती हैं, जिनमे कला का एक वशिष्ट्य प्राप्त होता है। यह सत्य है कि इनमे अनुभूति की अपेक्षा कलात्मक चमत्कार अधिक है, फिर भी अभिव्यक्ति को सौष्ठव प्रदान करने का प्रयत्न इन रचनाओ में देखा जाता है। चमत्कारिक विशेषता को हम दोष के रूप मे नही देख सकते। विशेष रूप से उस अलकरण और सजावट प्रधान काल मे इसे एक गुण के रूप में ही देखना चाहिए।

रूढ़िवादिता का दोष इस युग मे दिखायी देता है। एक ही प्रकार के प्रसगो और विषयो पर इस युग के कवियो ने अपनी रचनाएँ लिखी हैं। ऐसी बात नहीं है कि उसमे वैविध्य न हो परन्तु परिपाटीबद्धता उनमे अवश्य मिलती है जिसका मूल कारण यही था कि इस युग के कवि अपने लिए एक शुद्ध काव्य का मार्ग निकालना चाहते थे। अतएव परिपाटी का अनुगमन समग्र युग की विशेषता है और ध्यान से देखें तो यह रूढिबद्धता सभी युगो के काव्य मे दिखलायी देती है।' तुलनात्मक दृष्टि से विचार करने पर इतना स्वीकार करना पड़ता है कि इस युग म रूढिवादिता का प्रचलन अधिक मात्रा म दिखाई देता है चाहे उसके कई अनिवार्य कारण भी क्यो न रहे हो। उन कारणो की खोज नयी उपलब्ध सामग्री के आधार पर की जा सकेगी।

इससे स्पष्ट होता है कि "रीतिकालीन साहित्य को नितात हेय तथा निम्न कोटि का सिद्ध करने के लिए साधारणत प्रमुख रूप से जो दोषारोप लगाए जाते हैं उसके कारणों म या तो पूर्व ग्रह दूषित दृष्टिकोण है अथवा युग विशेष का विशिष्ट दृष्टिकोण है। अनुसधान में प्राप्त सामग्रियो को देखकर ज्ञात होता है कि रीतिकालीन साहित्य का वास्तव म सही सही मूल्याकन ही नही हो पाया। पुनर्मूल्याकन तब हो सकता है जब किसी का मूल्याकन पूर्णत हो जाता है। रीतिकालीन साहित्य का विचार करते समय कुछ ही विशिष्ट कवियो की कृतियाँ सामने रखी जाती हैं और उन्ही के आधार पर समस्त रीतिकालीन साहित्य पर समीक्षा की जाती है। लोकमणि, सीताराम, नपनामु शाहराज, जयराम, कवीद्राचार्य शकर सुकवि जसे अनेक रीतिकालीन कवियों तथा उनकी रचनाओ का परिचय तक हिंदी साहित्य को नही था ऐसे अनेक अज्ञात एव अपरिचित रीतिकालीन कवियों तथा उनके काव्य ग्रथों को हिंदी साहित्य के इतिहास में सहृदयता से समाविष्ट कर उनका उचित अध्ययन करना चाहिए। रुचि

भेद अथवा दृष्टिभेद के कारण कुछ मतभेद भले ही रहें परन्तु रीतिकालीन साहित्य का इकाई के रूप में जब मूल्यांकन किया जाएगा तब तत्कालीन अद्यावधि उपलब्ध संपूर्ण साहित्य के प्रति पूर्ण न्याय होना आवश्यक है। पुनर्मूल्यांकन का अर्थ यह नहीं है कि रीतिकालीन साहित्य के समस्त दोषारोपों का विरोध कर रीतिकालीन साहित्य को सर्वश्रेष्ठ कहा जाए। परन्तु एक तटस्थ समीक्षक के रूप में यह देखना अत्यावश्यक है कि क्या उन दोषारोपों में कोई तथ्य भी है? यदि उपलब्ध प्रमाणों से हम यह सिद्ध कर सकें कि दोषारोप सही नहीं हैं तो तत्कालीन साहित्य के प्रति न्याय होगा। साथ-ही साथ हम रीति युग के संदर्भ में समस्त रीति-कालीन साहित्य को देखकर उसके गुण दोषों की चर्चा करनी होगी न कि वर्तमान युग के संदर्भ में। रीतिकालीन साहित्य के अध्ययन तथा अनुसंधान की दिशाओं पर भी उस दृष्टि से विचार होना आवश्यक है।"[1]

"पुनर्मूल्यांकन की पद्धति विभिन्न 'आधुनिक' पद्धतियों में से एक है। यदि रीतिकालीन काव्य का पुनर्मूल्यांकन किया जाए तो आधुनिकता किसी भी अर्थ में बाधित नहीं होगी। समय की गति से जो धूल का आवरण अतीत के मुखावरण पर पड़ जाता है पुनर्मूल्यांकन उसे पोंछता है। वे साहित्य रूप जो न्याय के लिए चीखते हैं पुनर्मूल्यांकन की प्रक्रिया से शांत हो जाते हैं। यदि हमें अपनी अतीत की उपलब्धियों का तिरस्कार नहीं करना है, यदि उन्हें सहेजना है, यदि हम परम्परा को स्वस्थ रखना है, तो पुनर्मूल्यांकन करना ही होगा।[2] हमें विश्वास है कि रीतिकालीन साहित्य के पुनर्मूल्यांकन से उसके प्रति न्याय होगा और अनेक अज्ञात एवम् महत्त्वपूर्ण तथ्य प्रकाश में आ जाएँगे।

१ डा० कृष्ण दिवाकर के भाषण का अंश

२ डॉ० विजयपाल सिंह के अध्यक्षीय भाषण का अंश

९ | कवि कलस-कृत 'चद कवर री बात'

हिन्दी साहित्य म उपलब्ध प्रमाख्यानक काव्यो म 'चद कवर री बात' का अपना विशिष्ट स्थान है। इस ग्रथ के सम्बध म शोधात्मक विस्तृत विवेचन अब तक प्रस्तुत नही हुआ है। हिन्दी के प्रेमाख्यानक काव्य की चर्चा के प्रसग म दो चार स्थलो पर इस ग्रथ की जो चर्चा हुई है वह अपर्याप्त एव भ्रमात्मक भी है। कुछ ग्रथो म तो इसका नामोल्लेख मात्र किया गया है। 'चद कवर री बात' की हस्तलिखित प्रतियाँ बीकानेर उदयपुर जोधपुर, भारण (गुजरात), कलकत्ता, इलाहाबाद, पूना आदि स्थानो पर प्राप्त होती है। विभिन्न प्रतियो मे प्राप्त पाठ भेद तथा मूल ग्रथ की छान बीन का अभाव आदि से इस ग्रथ के सम्बध म विद्वानो मे मतभेद के साथ साथ कुछ बातो म भ्रातियाँ भी रही हैं। ये बातें प्रमुखतया ग्रथ का रचना काल, विषय-वस्तु तथा कवि के नाम के सम्बध म हैं।

ग्रथ के रचना-काल के सम्बध मे विभिन्न प्रतियो मे मुख्यत दो प्रकार के छद प्राप्त होते हैं। वे छद इस प्रकार हैं—

पनरे स चालीस मे पोस मास तिथ त्रयोदशी।
गुण कीनो गुणसार नगर नाम अमरावती ॥[1]

× × ×

सतरे सै चालीस सम तेरस पख जठ मास।
गुण कीनो कर चाव सु भोगी पूरण आस ॥[2]

उपर्युक्त छदो म से प्रथम छद केवल उदयपुर वाली एक ही प्रति म प्राप्त होता है। यह छद अनेक कारणो से अशुद्ध प्रतीत होता है। छद की मात्राए तथा अर्थ की दृष्टि से भी दोनो पक्तियो के अत्याक्षर भी भिन्न हैं। इसके अतिरिक्त सवत

---

१ चद कवर री बात' (हस्तलिखित प्रति), सरस्वती भडार उदयपुर
२ चद कवर री बात' (हस्तलिखित प्रति), राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान

१५४० मे राजस्थान के इतिहास मे किसी भी प्रतापसिंह नामक राजा के होने का उल्लेख तक नहीं मिलता। प्रत्युत सवत् १७३२ वि० से० स० १७६६ वि० के बीच महरावत प्रतापसिंह राजत्वकाल का विवरण मिलता है।[1] दोनो छन्दो में से किसी भी सवत और मास के साथ दिन का उल्लेख नहीं है। यदि दिन का उल्लेख होता तो पचाग के आधार पर तुलना कर निश्चित करना बडा ही सरल हो जाता। फिर भी ऐतिहासिक सदर्भ, छद की मात्राएँ, अयबोध अत्याक्षरो मे प्राप्त समता, अधिकाश प्रतियो म उपलब्धि आदि बातो के कारण द्वितीय छद ही शुद्ध प्रतीत होता है। यही छन्द किंचित हेर फेर के साथ लगभग सभी प्रतियो म मिलता है। अधिकाश समीक्षको ने भी इसका रचना-काल सवत १७४० वि० ही माना है जो समीचीन ही है।

राजस्थानी साहित्य के प्रसिद्ध विद्वान प० मोतीलाल मेनारिया ने राजस्थान में हिन्दी हस्तलिखित ग्रथो की खोज के प्रथम भाग म 'चद कवर री बात' के विवरण में ग्रथ के विषय के सम्बन्ध में लिखा है कि इसमे अमरावती नगरी के राजकुवर और वहा के सेठ की पुत्री राजकुवरी के प्रेम की कहानी है।[2] विषय का यह विवरण अत्यन्त अशुद्ध है। ग्रथ का ठीक तरह स अध्ययन करने से स्पष्ट होता है कि इसमें अमरावती नगरी के अमरसिंह राजा के पुत्र चद कुवर तथा चबावती नगरी के सेठ की पुत्री के प्रेम की कहानी है। डॉ० उदयसिंह भटनागर ने राजस्थान म हिन्दी ग्रथो की खोज के ततीय भाग म प० मोतीलाल मेनारिया द्वारा लिखित विवरण मे सशोधन करने का प्रशसनीय प्रयत्न किया है। परन्तु फिर भी उनमे कुछ अशुद्धियाँ रह गयी हैं। उदाहरणार्थ उन्होंने लिखा है कि चद कुवर सेठानी से विवाह कर उसे घर ले आता है। ग्रथ म इस विवाह के सम्बन्ध मे इस प्रकार विवरण है—

अजदीन री कुवरी चद कुवर परणाय।
हय गय पायक छोकरी दीना घब पठाय॥
चद कुवर बीनती कर सुणज्यो बात नरेस।
हम कु हसकर सीख द्यो, ज्यु आवा हमगेह।
कारि सजाई गमणकी घर कु चद चवार
सावत साथे पर ठिया एके सहस असवार॥[4]

इन छदों से स्पष्ट है कि चद कुवर ने मबापुरी के राजा अजदीन की पुत्री के साथ विवाह किया था न कि सेठानी के साथ। इस प्रकार छोटी मोटी बातें और भी हैं।

रचना-काल तथा विषय-वस्तु की भाति ग्रथ के रचयिता के सम्बन्ध मे भी मत-

१ राजपूताने का इतिहास—जगदीश गहलोत (१९३७ ई०), पृ० ५२४
२ राजस्थान में हिन्दी हस्तलिखित ग्रथों की खोज प्रथम भाग, (प्र० स०), पृ० २८
३ वही ततीय भाग, प्र० स०, पृ० १६०
४ चद कवर री बात (हस्तलिखित प्रति), जोधपुर।

६ | कवि कलस-कृत 'चंद कंवर री बात'

हिन्दी साहित्य में उपलब्ध प्रेमाख्यानक काव्यों में 'चंद कंवर री बात' का अपना विशिष्ट स्थान है। इस ग्रंथ के सम्बन्ध में शोधात्मक विस्तृत विवेचन अब तक प्रस्तुत नहीं हुआ है। हिन्दी के प्रेमाख्यानक काव्य की चर्चा के प्रसंग में दो चार स्थलों पर इस ग्रंथ की जो चर्चा हुई है वह अपर्याप्त एवं भ्रामक भी है। कुछ ग्रंथों में तो इसका नामोल्लेख मात्र किया गया है। 'चंद कंवर री बात' की हस्तलिखित प्रतियाँ बीकानेर, उदयपुर, जोधपुर, भारण (गुजरात), कलकत्ता, इलाहाबाद, पूना आदि स्थानों पर प्राप्त होती हैं। विभिन्न प्रतियों में प्राप्त पाठ भेद तथा मूल ग्रंथ की दान रीन का अभाव आदि से इस ग्रंथ के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद के साथ साथ कुछ बातों में भ्रांतियाँ भी रही हैं। ये बातें प्रमुखतया ग्रंथ का रचना काल, विषय-वस्तु तथा कवि के नाम के सम्बन्ध में हैं।

ग्रंथ के रचना काल के सम्बन्ध में विभिन्न प्रतियों में मुख्यतः दो प्रकार के छंद प्राप्त होते हैं। वे छंद इस प्रकार हैं—

पनरे सै बासीसै पोस मास सित त्रयोदशी।
गुण कीनो गुणसार नगर नाम अमरावती ॥[1]

× × ×

सतरै सै बासाठै समै तेरस पख जेठ मास।
गुण कीनो कर चाव सौं मोती पूरन आस ॥[2]

१५४० मे राजस्थान के इतिहास मे किसी भी प्रतापसिंह नामक राजा के होने का उल्लेख तक नहीं मिलता। प्रत्युत सवत १७३२ वि० से० स० १७६५ वि० के बीच महारावत प्रतापसिंह राजवखान का विवरण मिलता है।[1] दोनो छदो म से किसी भी सवत और मास के साथ दिन का उल्लेख नही है। यदि दिन का उल्लेख होता तो पचाग के आधार पर तुलना कर निश्चित करना बडा ही सरल हो जाता। फिर भी ऐतिहासिक सदभ, छद की मात्राएँ, अथबोध अत्याभरो मे प्राप्त समता, अधिकाश प्रतियो मे उपलब्धि आदि बातो के कारण द्वितीय छद ही शुद्ध प्रतीत होता है। यही छद किंचित हर फेर के साथ लगभग सभी प्रतियों मे मिलता है। अधिकाश समीक्षको ने भी इसका रचना-काल सवत १७४० वि० ही माना है जो समीचीन ही है।

राजस्थानी साहित्य के प्रसिद्ध विद्वान प० मोतीलाल मेनारिया ने राजस्थान में हिन्दी हस्तलिखित ग्रथो की खोज के प्रथम भाग म 'चद कवर री बात' के विवरण मे ग्रथ के विषय के सम्बन्ध मे लिखा है कि इसमें अमरावती नगरी के राजकुवर और वहा के सेठ की पुत्री राजकुवरी के प्रेम की कहानी है।[2] विषय का यह विवरण अत्यन्त अशुद्ध है। ग्रथ का ठीक तरह से अध्ययन करने से स्पष्ट होता है कि इसमे अमरावती नगरी के अमरसिंह राजा के पुत्र चद कुवर तथा प्रबावती नगरी के सेठ की पुत्री के प्रेम की कहानी है। डॉ० उदयसिंह भटनागर ने राजस्थान म हिन्दी ग्रथों की खोज के ततीय भाग मे प० मोतीलाल मेनारिया द्वारा लिखित विवरण मे सशोधन करने का प्रशसनीय प्रयत्न किया है। परतु फिर भी उनमे कुछ अशुद्धियाँ रह गयी हैं। उदाहरणार्थ उन्होने लिखा है कि चद कुवर सेठानी से विवाह कर उसे घर ले आता है। ग्रथ म इस विवाह के सम्बन्ध म इस प्रकार विवरण है—

> राजवीन री कुवरी चद कुवर परणाय।
> हय गय पायक छोकरी बीना घच पठाय॥
> चद कुवर बीनती करै सुणज्यो बात नरेस।
> हम [illegible] हसकर सीप द्यो, ज्यु जावा हमगेह।
> कारि सजाई गमणकी घर कु चद कवार
> सावत साथे पर ठिया एके सहस असवार॥[4]

इन छन्दो से स्पष्ट है कि चद कुवर ने प्रभापुरी के राजा अजभीन की पुत्री के साथ विवाह किया था न कि सेठानी के साथ। इस प्रकार छोटी मोटी बातें और भी हैं।

रचना-काल तथा विषय वस्तु की भाति ग्रथ के रचयिता के सम्बन्ध में भी मत

---

१ राजपूताने का इतिहास—जगदीश गहलोत (१९३७ ई०), पृ० ५२४
२ राजस्थान में हिंदी हस्तलिखित ग्रथों की खोज प्रथम भाग, (प्र० स०), पृ० २८
३ वही, ततीय भाग, प्र० स०, पृ० १६०
४ चद कवर री बात (हस्तलिखित प्रति), जोधपुर।

भिन्नता दृष्टिगोचर होती है। प० मोतीलाल मनारिया[1] तथा डा० कमल कुलश्रेष्ठ[2] प्रतापसिंह को 'चद कवर री बात' के रचयिता मानते हैं। परन्तु ग्रथ का सूक्ष्म अध्ययन करने पर यह कथन असत्य प्रतीत होता है। ग्रथ की निम्नलिखित पक्तिया विचारणीय है—

परतापसिंघ खुमाण न, हुकुम कियो,कर चाव।
हस कवि सु ऐसे कहै, कछु यक बात सुणाय॥
× × ×
जोधयस जुग जुग जीवो, पुणो होत परवार।
नाम धरयौ प्रताप त, या गुणको गुणसार॥[3]

इन छदो से स्पष्ट हो जाता है कि चद कवर री बात की रचना प्रतापसिंह खुमाण की आज्ञा से हुई। अतिम छद म कवि द्वारा की गयी प्रशस्ति तथा आशीर्वचन भी इसी बात की पुष्टि करते है कि प्रतापसिंह ग्रथ के रचयिता नही थे बल्कि ग्रथकार के आश्रयदाता थे। अत प्रतापसिंह को 'चद कवर री बात' के रचयिता मानना तक सगत एव समीचीन नही है।

डा० भगीरथ मिश्र[4], डा० हरिकान्त श्रीवास्तव[5], तथा डॉ० उदयसिंह भटनागर[6] ने इस ग्रथ के रचयिता प्रतापसिंह को न मानकर हस कवि को माना है। उनके मन में मत की आधारशिला सभवत निम्नलिखित पक्तियाँ ही हैं—

परतापसिंघ खुमाण न हुकुम कियो कर चाव।
हस कवि सु ऐसे कहै कछु यक बात सुणाय॥
सबकु लाग सुहामणी रचि सजोग विचार।
मुरय ही को मन हर, सब रसोयन को सार॥[7]

प्रथम छद की द्वितीय पक्ति म प्राप्त हस शब्द के स्थान पर कुछ प्रतियो म 'हँस' शब्द भी मिलता है। समस्त कृति म हस कवि का प्रयोग नही मिलता कुछ प्रतियो मे, कवि शब्द 'करि' के समान लिखा हुआ है। राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान जोधपुर के हस्तलिखित ग्रथ सग्रह मे उपलब्ध 'चद कवर री बात' की प्रति

१ राजस्थान मे हिंदी हस्तलिखित ग्रथों की खोज, प्रथम भाग (प्र० स०) पृ० २८
२ हिंदी प्रेमाख्यानक काव्य—डॉ० कमल कुलश्रेष्ठ, (प्रथम सस्करण), पृ० १५
३ चद कवर री बात (हस्तलिखित प्रति), जोधपुर
४ हिंदी साहित्य का उद्भव और विकास—रामबहोरी शुक्ल तथा भगीरथ मिश्र, (प्र० स०) पृ० ३०
५ भारतीय प्रेमाख्यान काव्य—डा० हरिकान्त श्रीवास्तव (प्र० स०), पृ० २६६
६ राजस्थान मे हिंदी हस्तलिखित ग्रथो की खोज तृतीय भाग (प्र० स०) पृ० १६०
७ चद कवर री बात (हस्तलिखित प्रति) जोधपुर

में ग्रंथ के अन्त में रचनाकार का उल्लेख स्पष्ट रूप से मिलता है देखिए—

प्रतापसिंघ सुरत सम चाचत सदा सुहाय ।
चंद बात पूरी हुई, करी 'कलस कवीराय' ॥[१]

बीकानेर के अभय जैन ग्रंथालय में सुरक्षित 'चंद कंवर री वात' की एक प्रति में, 'कसल' पाठ भी मिलता है ।[२] लिपिकार की असावधानी से, 'कलस' के स्थान पर, 'कसल' पाठ का लिखा जाना सहज सम्भव है । इसके अतिरिक्त, 'कसल' हिन्दी का नाम भी तो सम्भव नहीं प्रतीत होता । इस ग्रंथ में, 'कलस' का दो बार उल्लेख हुआ । इस सदर्भ में ग्रंथारम्भ की उपरिनिर्दिष्ट चार पंक्तियों का समुचित अर्थ इस प्रकार ही किया जा सकता है कि प्रतापसिंह खुमाण ने बड़ी प्रसन्नता से आज्ञा देते हुए कवि से हँस कर कहा कि कुछ ऐसी अपूर्व बात सुनाओ जो सबको सुन्दर लगे । वह सरस बात रसिकों के साथ मूल व्यक्तियों का भी मन हर सके । सन्दर्भ तथा औचित्य की दृष्टि से यही अर्थ समीचीन प्रतीत होता है । द्वितीय पंक्ति में प्राप्त, 'हंस' शब्द को व्यक्तिवाचक सज्ञा के रूप में ग्रहण किया जाए तो अर्थ में स्पष्टता नहीं आती । द्वितीय छंद के सन्दर्भ में 'हस' शब्द का अर्थ, 'हसकर' लेना ही अधिक तर्क सगत प्रतीत होता है । दूसरी बात ध्यान देने योग्य है कि प्रतियों में 'हस' अथवा 'हँस' शब्द मिलते हैं न कि, 'हस' । हिन्दी साहित्य के इतिहासों अथवा अन्य ग्रंथों में, 'हस' नामक कवि का कोई परिचय भी प्राप्त नहीं होता । यदि कवि का नाम 'हस' होता तो ग्रंथ के अन्त में 'कलस कवीराय' के स्थान पर हस कवीराय होना चाहिए था । अतः विवेचन से स्पष्ट होता है कि चंद कंवर री वात का वास्तविक रचयिता कलस कवि ही हो सकता है न कि प्रतापसिंह अथवा हस कवि ।

अब प्रश्न उठ सकता है कि यह कलस कवि कौन होगा ? समकालीनता एवम् ऐतिहासिक सन्दर्भ को देखते हुए ज्ञात होता है कि चंद कंवर री बात के रचयिता कलस कवि सम्भवतः महाराष्ट्र के मराठा शासक छत्रपति सम्भाजी के प्रधान मन्त्री 'कवि कलस' ही थे । संक्षेप में कवि कलस एक प्रसिद्ध ऐतिहासिक व्यक्ति थे । उनका समय अनुमानतः संवत् १६७८ वि० से संवत् १७४६ वि०[३] तक था । छत्रपति शिवाजी तथा सम्भाजी के दरबार में उन्हें सम्मान का स्थान प्राप्त था । प्रधान मन्त्री के अतिरिक्त वे सम्भाजी के काव्य गुरु भी थे ।[४] कुशल राजनीतिज्ञ के साथ-साथ वे उत्कृष्ट कोटि के कवि भी थे । संस्कृत तथा हिन्दी भाषाओं पर उनका प्रभुत्व था । उन्होंने संस्कृत के अतिरिक्त हिन्दी में भी ग्रंथ रचना की थी । शृंगार रस में उन्हें विशेष रुचि थी । मन्त्र तन्त्र की विशेष सिद्धि उन्हें प्राप्त थी । राजपूतों से कवि कलस

१ चंद कंवर री बात (हस्तलिखित प्रति), जोधपुर
२ चंद कंवर री बात (हस्तलिखित प्रति), बीकानेर
३ उग्र प्रकृति सम्भाजी (प्र० स०), गो० स० सरदेसाई पृष्ठ ६९
४ मिश्रबन्धु विनोद, भाग—३ (द्वि० स०), पृष्ठ ९५२

का घनिष्ठ सम्बन्ध था। शाहजादा अकबर तथा दुर्गादास को कविकलस ही की सिफारिश से आश्रय मिला था।[1] कविकलस की मृत्यु के बाद उनके घर वाले लोगों के राजस्थान मे चले जाने का उल्लेख मिलता है[2] जिससे अनुमान होता है कि राजस्थान म उनके रिश्तेदार अथवा हितैषी थे।

'चद कवर री बात का रचनाकाल सवत १७४० वि० है। ग्रन्थरचना की आज्ञा देने वाले खुमाण प्रतापसिंह राजपूत थे। ग्रथ की विषय वस्तु म शृगार रस का प्रधानता है। इस प्रकार कविकलस के जीवन मे प्राप्त तथ्या से यह स्पष्ट होता है कि, 'चद कवर री बात के रचयिता कवि कलस महाराष्ट्र के मराठा राजा छत्रपति सम्भाजी के काव्य गुरु तथा प्रधान मन्त्री ही थे।

आज्ञतो (हस्तलिखित प्रति), १२/२७ २८

नागरी प्रचारिणी पत्रिका, भाग—२, स० १९७८, पृष्ठ ९८

१० | कवींद्र सरस्वती और कवींद्र परमानद

'नागरी प्रचारिणी पत्रिका'[१] मे श्रीमान् तामसकर जी का 'कवींद्राचार्य सरस्वती' नामक लेख प्रकाशित हुआ था। उसमें उन्होंने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि मुगल सम्राट शाहजहाँ के आश्रित कवींद्राचार्य सरस्वती और छत्रपति शिवाजी महाराज के सस्कृत चरित्र 'शिवभारत' के रचयिता कवींद्र परमानद दोनो अभिन्न व्यक्ति थे। अनुसधान कार्य के सिलसिले में मुझे कवींद्राचार्य सरस्वती तथा कवींद्र परमानद के चरित्रो एव ग्रथो का अध्ययन करने का अवसर प्राप्त हुआ। उक्त दोनो कवियो के सम्बन्ध मे उपलब्ध समस्त अन्तर्बाह्य सामग्रियो का परिशीलन करने से ज्ञात हुआ है कि कवींद्राचार्य सरस्वती और कवींद्र परमानद दोनों एक व्यक्ति नही, अपितु भिन्न व्यक्ति हैं।

कवींद्राचार्य सरस्वती और कवींद्र परमानद इन दोनो का अभिन्नत्व सिद्ध करते समय अपने मत की पुष्टि मे श्रीमान् तामसकर जी ने जो बातें लिखी हैं उनमे से लगभग सभी कल्पना एव अनुमान पर आधारित हैं। कवींद्र सरस्वती बडे विद्वान थे तथा बनारस के रहने वाले थे। परमानद भी 'कवींद्र' थे तथा बनारस के रहने वाले बहुत बडे विद्वान थे। दोनो के सबध म प्राप्त इतनी सी सामान्य बातों म समता पाकर श्रीमान् तामसकर जी ने उन दोनो को अभिन्न व्यक्ति ठहराने का प्रयास किया है। उन्होंने प्रारम्भ म ही उन दोनो के अभिन्न होने की बात स्वीकार की है और उसी दृष्टिकोण से हर बात पर बिना विशेष छानबीन किए अनुमान के आधार पर ही चर्चा की है और निष्कर्ष भी निकाले हैं।

कवींद्राचार्य सरस्वतीकृत 'कवींद्र कल्पद्रुम' नामक सस्कृत ग्रथ म कवींद्राचार्य के जन्मस्थान के विषय म स्थूल परिचय प्राप्त होता है—

गोदातीरे प्रमोदावलि वलितमे जन्मभाक पुण्यभूमा
ऋग्वेदी वेदवेदी जयति विजयते श्री कवींद्र द्विजेन्द्र ॥[२]

---

१ नागरी प्रचारिणी पत्रिका, काशी श्रावण-आश्विन, स० २००५ वर्ष ५३, अक २

२ इंडिया आफिस कैटलाग, भा० ७, न० ३९४७

इससे स्पष्ट हो जाता है कि कवींद्राचार्य का जन्म महाराष्ट्रान्तगत गोदावरी नदी के तीरस्थ किसी पुण्यक्षेत्र में हुआ था। यह पुण्यक्षेत्र का स्थान या तो नासिक हो सकता है या प्रतिष्ठान (पठण)। परन्तु श्री रामसकर जी ने यह स्थान निधिवास (नवासे) मान लिया है, क्योंकि 'शिवभारत' के रचियता का निवास-स्थान निधिवास था। निधिवास को गोदातीर के पुण्यक्षेत्र के रूप में स्वीकार करते समय उन्होंने भौगोलिक तथा ऐतिहासिक सूचनाओं की उपेक्षा-सी की है। वास्तव में निधिवास प्रवरा नदी के तीर पर है न कि गोदावरी नदी के।[1] और उस समय निधिवास की प्रसिद्धि भी पुण्यक्षेत्र के रूप में वसी न थी जैसी नासिक अथवा प्रतिष्ठान की थी। अत निधिवास को गोदावरी के तीरस्थ पुण्यभूमि मानकर उसे कवीन्द्राचार्य की जन्म भूमि ठहराना कोरी कल्पना मात्र है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि कवींद्राचार्य सरस्वती का जन्मस्थान गोदावरी के तीरस्थपुण्यक्षेत्र नासिक अथवा प्रतिष्ठान (पठण) था और कवीद्र परमानन्द का जन्मस्थान प्रवरा नदी के तीरस्थ निधिवास नामक ग्राम था। अत यह निश्चित हो जाता है कि दोनो के जन्मस्थान भिन्न थे।

यह सत्य है कि दोनो विद्वान् थे, दोनो को 'कवीद्र' उपाधि प्राप्त थी परन्तु केवल इतनी-सी बात के आधार पर दोनो व्यक्तियों को एक ठहराना तक सङ्गत प्रतीत नहीं होता। किसी भी विद्वान् तथा श्रेष्ठ कवि को कवींद्र उपाधि देने की परम्परा बहुत प्राचीन है। परमानद के नाती गोविन्द कवि को भी 'कवीद्र' की उपाधि प्राप्त थी।[2] इसी प्रकार कालिदास त्रिवेदी के पुत्र उदयनाथ भी 'कवीद्र' नाम से प्रसिद्ध थे।[3] इस भाँति 'कवीद्र' उपाधिधारी कई सस्कृत तथा हिंदी कवियों के नाम गिनाए जा सकते हैं। यह स्पष्ट ही है कि 'कवीद्र' उपाधि उन्हें इसीलिए मिली होगी कि वे सभी अच्छे विद्वान तथा श्रेष्ठ कवि होंगे। अत केवल 'कवींद्र' की उपाधि तथा विद्वत्ता में साम्य होने से कवीद्र सरस्वती और कवीद्र परमानद को अभिन्न ठहराना समीचीन न होगा। अब रही बात दोनो के बनारस निवास की। परन्तु यह भी कोई महत्वपूर्ण नहीं है क्योंकि उस समय काशी के विद्याकेन्द्र होने से उच्च शिक्षा की प्राप्ति के लिए भारतवर्ष के लिए समस्त सुदूर प्रान्तो से विद्वज्जन काशी में आते ही रहते थे। इसलिए यद्यपि उन दोनो के काशी निवास का उल्लेख मिलता है तो भी उससे उनके अभिन्नत्व सिद्ध होने में कोई सहायता नहीं मिलती। 'कवीद्र चन्द्रोदय' में प्राप्त एक छद के द्वारा कवींद्राचार्य सरस्वती के सन्यास पूर्व नाम का अस्पष्ट-सा सकेत प्राप्त होता है—

---

१ महाराष्ट्रीय ज्ञानकोश—डा० श्रीधर व्यकटेश केतकर (१९२५ ई०), विभाग १७, पृ० ३९३

२ मराठा रियासत, भा० ४, गो० स० सरदसाई पृ० १६४

३ दि माडन वर्नाक्यूलर लिटरेचर आफ हिंदुस्तान—डा० ग्रियसन, कवि सख्या ३३४

भट्टो नारायण साक्षात पुरासीच्चङ्कर शिव ।
तथैवाद्यत्वय कृष्ण कवींद्रस्वामिदण्डधक ॥[1]

श्रीमान तामसकर जी ने इसका अर्थ देते हुए लिखा है—'नारायण भट्ट ही कवींद्र थे जो संन्यासी हुए। वे शंकर के समान उपकारी थे और सब का उपकार करते थे। अब वे कृष्ण के समान सबको वेदान्त सिखाते हैं। उपर्युक्त श्लोक का अर्थ ऐसा ही हो सकता है दूसरा नहीं। ऐसा न होने पर किस प्रकार कहा जा सकता है कि वे पहले 'शंकर शिव' थे, बाद में कृष्ण हुए। एक ही जीवन में एक आश्रम के न तो दो नाम हो सकते हैं और न दो अवतारों की कल्पना की जा सकती है। शिव अर्थात उपकारी शंकर और कृष्ण अर्थात् वेदान्त की शिक्षा देने वाले कृष्ण ही अभिप्रेत हो सकते हैं।' अन्वय की दृष्टि से विचार करने पर ज्ञात होता है कि श्रीमान तामसकरजी द्वारा किया हुआ यह अर्थ योग्य नहीं है। वास्तव में इस श्लोक का स्पष्ट अर्थ यही हो सकता है कि इसके पूर्व जिस प्रकार नारायण भट्ट[2] साक्षात शिव के समान कल्याणकारी थे उसी प्रकार यहाँ (अधुना) ये कवींद्र स्वामी संन्यासी होकर भी कृष्ण के समान थे। अर्थात संन्यासी होकर भी लोकसंग्रहार्थ कहीं एकान्त में न जाकर इन्होंने अपना जीवन कृष्ण के समान सामाजिक कार्य के लिए व्यतीत किया था। इस छंद के पूर्व के छन्दों में भी कवींद्राचार्य सरस्वती की तुलना अनेक महान् व्यक्तियों से की गई है। डा० राघवन् ने[3] इसी श्लोक के आधार पर यह अनुमान किया है कि कवींद्राचार्य का वास्तविक मूल नाम या तो कृष्ण होगा या संन्यासाश्रम का कोई ऐसा नाम होगा जिसका मुख्य अंग 'कृष्ण' होगा। डा० राघवन के इस कथन से भी इस बात की पुष्टि हो जाती है कि तामसकर जी द्वारा लिखित अर्थ ठीक नहीं है। अतः यह भी स्पष्ट हो जाता है कि नारायण भट्ट कवींद्राचार्य का मूल नाम नहीं था।

श्रीमान तामसकरजी ने अपने लेख में निष्कर्ष रूप में यह लिखा है कि 'हमारा ऐसा मत है कि कवींद्राचार्य का मूल नाम नारायण था, पिता का नाम गोविन्द था,

---

१ कवींद्र चन्द्रोदय—सम्पादक शर्मा और पाटकर, छंद संख्या १२३

२ नारायण भट्ट नामक महाराष्ट्रीय ब्राह्मण का समय सन् १५१३ ई० से १५८० ई० तक था। इन्होंने काशी में विश्वेश्वर मन्दिर बनवाया था। सम्पूर्ण भारतवर्ष के विद्वान इन्हें आदर-सम्मान देते थे। विद्वत्ता एवं दयालुता के कारण इन्हें जगत गुरु की उपाधि प्राप्त हुई थी। ये अत्यन्त उपकारी व्यक्ति थे। इनके शिष्यों में ब्रह्मेन्द्र सरस्वती और नारायण सरस्वती प्रसिद्ध हैं। (भारतवर्षीय मध्ययुगीन चरित्रकोश सिद्धेश्वर शास्त्री चित्राव, सन् १९३७ ई०, पृ ४८९ ४९०)

३ 'Kavindracharya Saraswati' Acarya Pushpanjali (D R Bandarkar, Com Vol) Page 160, Dr Raghavan bases his argument on stanza from Kavindra Chandrodaya No 123

संयासाश्रम का नाम परमानंद था और इन्होंने ही शिवभारत नामक शिवाजी का चरित्र संस्कृत भाषा में लिखा।[1] यह तो स्पष्ट हो चुका है कि कवींद्राचार्य सरस्वती का मूल नाम नारायण भट्ट न था। अब रहा प्रश्न पिता के तथा संयासाश्रम के नामों का। उन्होंने अपने निष्कर्ष रूप में अभिव्यक्त मत की पुष्टि में कोई प्रमाण उपस्थित नहीं किया है। कवींद्राचार्य के किसी ग्रंथ में अथवा तत्कालीन पंडितों तथा कवियों द्वारा रचित उनके लिए अभिनन्दन ग्रंथों में भी इस बात का उल्लेख तक नहीं मिलता कि कवींद्र सरस्वती के पिता का नाम गोविंद था और संयासाश्रम का नाम परमानंद था।

कवींद्राचार्य सरस्वती कृत कवींद्र कल्पलता नामक हिन्दी ग्रंथ में कवि ने स्वयं अपना परिचय देते हुए स्पष्ट लिखा है—

पहले गोदातीर निवासी ।
पाछे आइ बसे हैं कासी ।।
सब विषयनि ते भये उदास ।
बालदशा में लयो संयास ।।[2]

इससे स्पष्ट हो जाता है कि कवींद्राचार्य सरस्वती को जीवन की प्रारम्भावस्था ही में विरक्ति हुई थी जिसके फलस्वरूप उन्होंने संयास ग्रहण किया। यदि श्रीमान् रामसकरजी की बात मान ली जाय तो जीवन की प्रारम्भावस्था में संयासाश्रम के 'परमानंद' नाम से इनकी प्रसिद्धि हुई होगी। संयासी व्यक्ति संयास ग्रहण करने के पश्चात केवल उसी नाम का प्रयोग करते हैं जो नाम संयासाश्रम में स्वीकार किया जाता है। यदि परमानंद कवींद्राचार्य सरस्वती का संयासाश्रम का नाम था तो उस नाम के स्थान पर उन्होंने परम्परा के विरुद्ध कवींद्राचार्य सरस्वती नाम को ही क्यों ग्रहण किया? कवींद्राचार्य के समस्त ग्रंथों में कहीं भी तो 'परमानंद' नाम का उल्लेख होना चाहिए था परन्तु वह भी नहीं मिलता।

काशी प्रयाग जैसे हिंदू तीर्थ क्षेत्रों को शाहजहां द्वारा करमुक्त करानेवाले कवींद्राचार्य सरस्वती के कार्य से प्रभावित होकर समकालीन दिग्गज पण्डितों एवं कवियों ने संस्कृत, मराठी और हिंदी में जो प्रशस्ति काव्य लिखे हैं उन में कवींद्राचार्य सरस्वती के मूल नाम से लेकर सभी उपाधियों का परिचय दिया गया है परन्तु उसमें

---

१ नागरी प्रचारिणी पत्रिका काशी श्रावण आश्विन सं० २००५, वर्ष ५३, अङ्क २

२ कवींद्र कल्पलता (हस्तलिखित प्रति), भाण्डारकर रिसर्च इंस्टि०, पूना

३ 'कवींद्र चन्द्रोदय' संस्कृत और मराठी के प्रशस्ति काव्य हैं जो शर्मा तथा पाटकर के सम्पादन में ओरिएण्टल बुक एजेंसी पूना से सन १९३९ ई० में प्रकाशित हुआ है। कवींद्र चन्द्रिका' हिंदी प्रशस्तिकाव्य है जो अप्रकाशित है और इसकी हस्तलिखित प्रति बीकानेर में प्राप्त है।

रमानद' नाम का कहीं भी उल्लेख तक नहीं है। अत कवींद्राचार्य सरस्वती का ंयासाश्रम का नाम परमानद' मानना काल्पनिक एव निराधार ही है। नृसिंह रस्वती, नारायण सरस्वती, माधव सरस्वती, दामोदर सरस्वती आदि श्रेष्ठ तथा दशास्त्रज्ञ सन्यासियों के नाम देखकर अनुमान होता है कि कवींद्राचार्य सरस्वती नाम उन्होंने सन्यास दीक्षा के समय लिया होगा और परम्परा के अनुसार इसी नाम से वे सिद्ध हुए। कवींद्राचार्य सरस्वती स्वय वेदशास्त्र के ज्ञाता और सन्यासी थे और उन्होंने शाहजहा के दरबार म ऋग्वेद की व्याख्या सुनाई थी।[१]

इसके अतिरिक्त कवींद्राचार्य सरस्वती और कवींद्र परमानद के अभिन्न न होने के कई प्रमाण दिए जा सकते हैं। कवींद्र सरस्वती का सस्कृत तथा हिन्दी पर समान अधिकार था। उन्होंने अनेक सस्कृत ग्रथो के साथ 'कवींद्र कल्पलता', 'योगवा-शिष्ठसार' आदि हिन्दी ग्रथो का भी प्रणयन किया है। कवींद्र परमानद के 'शिव भारत' तथा 'परमानदकाव्य' (अनुपुराण) नामक दो सस्कृत ग्रथ ही मिलते हैं। उनके द्वारा रचित कोई हिंदी ग्रथ अब तक न प्रकाश में आया है न इस बात का कहीं उल्लेख ही पाया जाता है। दोनों के ग्रथो म प्राप्त पुष्पिकाएँ भी भिन्न हैं। 'कल्पलता' मे कवींद्राचार्य सरस्वती ने लिखा है—

इतिश्री सर्वविद्यानिधान कवींद्राचार्य सरस्वती विरचितायाँ
कवींद्र कल्पलतायाम साहिजहा विषयक भाषा कवित्वानि ॥[२]

जहाँगीर की प्रशसा म लिखित इनके 'जगद्विजय छद, नामक सस्कृत ग्रथ म इस प्रकार पुष्पिका मिलती है—

श्री सर्व विद्यानिधान कवीन्द्राचार्य सरस्वतीना
लघुजगद्विजय छन्द पुस्तकम। शुभमस्तु ॥[३]

कवीन्द्र परमानद की 'शिवभारत' म प्राप्त पुष्पिका इससे सर्वथा भिन्न है—

इत्यनुपुराणे सूर्यवश कवीन्द्रपरमानद प्रकाशिताया
शतसाहस्र्या सहिता या कुमार प्रभवो नाम प्रथमोऽध्याय ॥[४]

उपर्युक्त पुष्पिकाओ मे स्पष्ट हो जाता है कि दोनो की शैलियाँ, उपाधियो तथा नामो म भिन्नता है दोनो को पढकर निश्चय हो जाता है कि दोनो दो भिन्न व्यक्ति थे।

---

१ हिन्दी साहित्य का बृहत इतिहास, षष्ठभाग—सम्पादक डा० नगेन्द्र, पृ० ५
२ कवींद्र कल्पलता (हस्तलिखित प्रति), भाण्डारकर रिसर्च इन्स्टीटयूट, पूना
३ Jagatvijaya Chhandas by Kavindracharya Saraswati Editor Dr C Kunhan Raja Head of the Dept of Sanskrit, University of Madras 1945 A D
४ शिवभारत—सम्पादक स० म० दिवेकर (शके १८४९), पृ० १२

कवीन्द्राचार्य सरस्वती का अधिकांश काल जहाँगीर तथा शाहजहाँ के दिल्ली दरबार में व्यतीत हुआ था। सम्भवत सन् १६२२ ई० से सन् १६५८ ई० तक अर्थात् शाहजहाँ की पदच्युति तक वे मुगल दरबार में ही थे। 'शिवभारत' में परमानंद ने शिवाजी के जीवन की घटनाओं का इतना विस्तार किया है कि पढ़कर ज्ञात होता है कि परमानन्द अवश्य ही शिवाजी के सम्पर्क में बहुत काल तक रहे होंगे। 'शिवभारत' में परमानंद ने शिवचरित्र का वर्णन सूक्ष्मता से किया है। बाल्यावस्था से लेकर शिवाजी के चरित्र का वर्णन उसमें किया गया है। उन्होंने कई स्थानों पर युद्ध में सम्मिलित योद्धाओं की नामावली भी गिनायी है। स्थल काल तथा घटनाओं का इतना सूक्ष्म वर्णन उस व्यक्ति के लिए कैसे सम्भव है जिसने अपने जीवन का अधिकांश काल मुगल दरबार में बिताया। इसके अतिरिक्त दोनों की वर्णन शैली में महान् अन्तर दृष्टिगोचर होता है। परमानन्द द्वारा रचित 'शिवभारत' में जहाँ स्थान-स्थान पर ऐतिहासिक घटनाओं का सूक्ष्म वर्णन पाया जाता है, वहाँ कवीन्द्राचार्य के ग्रंथों में इस प्रवृत्ति का अभाव दिखायी देता है। जहाँ परमानंद की शैली आत्मनिष्ठ (विषयीगत) है वहाँ कवीन्द्राचार्य सरस्वती की शैली वस्तुनिष्ठ (विषयगत) है। कवीन्द्राचार्य का 'ध्रुपद' के प्रति विशेष आकर्षण था। परमानंद के संबंध में यह बात नहीं पायी जाती। दोनों के काव्यविषयों तथा नामकरण की पद्धति में भी भिन्नता है। जहाँ परमानंद के विषय ऐतिहासिक हैं, वहाँ कवीन्द्राचार्य सरस्वती के विषय ऐतिहासिक, पौराणिक और दार्शनिक हैं। परमानंद ने अपने ग्रंथों के नाम 'शिवभारत', 'अनुपुराण' रखे हैं तो कवीन्द्राचार्य सरस्वती ने अपने ग्रंथों के नाम 'कवीन्द्र कल्पलता', 'कवीन्द्र-कल्पद्रुम', 'जगद्विजय छन्द' 'योगवाशिष्ठसार' आदि रखे हैं। कवीन्द्राचार्य सरस्वती का कविताकाल सन १६२२ से १६६० तक है और 'शिवभारत' के रचयिता परमानंद का कविताकाल सन १६६४ के पश्चात है।

इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि सब विद्यानिधान कवीन्द्राचार्य सरस्वती और कवीन्द्र परमानंद इन दोनों में 'कवीन्द्र' उपाधि के अतिरिक्त ऐसा कोई साम्य नहीं मिलता जिससे दोनों की अभिन्नता सिद्ध हो सके। अत यह निश्चय हो जाता है कि कवीन्द्राचार्य सरस्वती और कवीन्द्र परमानंद एक व्यक्ति के दो नाम नहीं थे अपितु दोनों भिन्न व्यक्ति थे।

११ | हिन्दी साहित्य का प्रथम अभिनंदन ग्रंथ—'कवीन्द्र-चन्द्रिका'

ईसा की सत्रहवीं शताब्दी में भारत में जो श्रेष्ठ एवं दिग्गज आचार्य हुए उनमें कवीन्द्राचार्य सरस्वती का नाम विशेष उल्लेखनीय है। वे अखिल भारतीय कीर्ति के महाराष्ट्रीय विद्वान् थे। मुगल सम्राट शाहजहाँ के दरबार में इन्हें विशेष गौरव प्राप्त हुआ था। संस्कृत तथा हिंदी भाषाओं में उन्होंने अनेक ग्रंथों की रचना की है। इतने बड़े प्रतिभा संपन्न तथा प्रसिद्ध आचार्य का परिचय बहुत कम लोगों को है। उनके बहुत से ग्रंथ अप्राप्य होने से संभवतः विद्वानों ने भी कवीन्द्राचार्य सरस्वती के संबंध में अधिक नहीं लिखा। हिंदी के प्रसिद्ध समीक्षक आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जी के 'हिंदी साहित्य के इतिहास' में एक हिंदी रचनाकार के नाते इनका उल्लेख तक नहीं मिलता। शुक्ल जी के परवर्ती हिंदी साहित्य के लगभग सभी इतिहासकार इनके संबंध में मौन ही दिखायी देते हैं। ठाकुर शिवसिंह,[1] डा० ग्रियर्सन[2] तथा मिश्रबंधुओं ने[3] अपने ग्रंथों में कवीन्द्राचार्य सरस्वती के संबंध में कुछ सूचनाएँ अवश्य दी हैं परन्तु वे अत्यंत संक्षिप्त एवं अपूर्ण हैं। अतएव कवीन्द्राचार्य जैसे प्रकांड पंडित, श्रेष्ठ साहित्यकार तथा प्रसिद्ध सांस्कृतिक नेता के संबंध में विशेष अनुसंधान कर उनके जीवन चरित्र, असाधारण व्यक्तित्व एवं काव्य कृतियों पर यथावत् प्रकाश डालना अत्यावश्यक है।

मुगल सम्राट शाहजहाँ के शासन-काल में हिंदुओं के तीर्थ-स्थानों पर विशेषतः काशी और प्रयाग में यात्रियों से अमानुषिक रीति से यात्रा कर वसूल किया जाता था। हिंदू जनता के लिए यह बात अत्यंत घृणास्पद एवं अपमानजनक थी। मुसलमान शासकों द्वारा लगाये गये इस अन्यायमूलक एवं कष्टकारक यात्रा-कर को हटाने के

---

१ शिवसिंह सरोज—कविसंख्या ७६

२ दि माडर्न वर्नाक्युलर लिटरेचर आफ हिंदुस्तान, कविसंख्या १५१

३ मिश्रबंधु विनोद द्वितीय भाग (द्वितीय संस्करण), पृ० ४५

लिए अनेक लोगो ने प्रयत्न किये। अनेक बार प्राथनापत्र भेजे गये परतु यात्रा कर न हट सका। अन्त मे काशी के विद्वानो एव पडितो ने शाहजहा के पास एक प्रतिनिधि मडल भेजा। उस समय काशी मे पूर्णेंद्र सरस्वती ब्रह्मेंद्र सरस्वती, अप्पय दीक्षित विश्वनाथ पचानन, भट्टाचार्य जसे प्रसिद्ध पडितो के होते हुए भी इस प्रतिनिधि मडल का नेतृत्व कवीद्राचाय सरस्वती को ही दिया गया। कवीद्राचाय का दिल्ली दरबार से सपक प्रभावी व्यक्तित्व मोहित करने वाला वक्तृत्व मधुर भाषिता, सस्कृत तथा हिंदी भाषाओ पर प्रभुत्व तथा हिंदु धम के प्रति उनकी असीम श्रद्धा आदि गुण विशेष से ही काशीस्थ पडितो ने कवीद्राचाय सरस्वती को प्रतिनिधि मडल के नेता के रूप म चुना था।

नियोजित कायक्रम के अनुसार प्रतिनिधि मडल को लेकर कवीद्राचाय सरस्वती आगरे के किले म बादशाह शाहजहा के दरबार 'दीवान ए आम मे उपस्थित हुए। उस समय दरबार मे इराक, इरान बलख, बदकसान आदि देशो के राजदूत भी उपस्थित थे।[1] कवीद्राचाय सरस्वती न अपने मुग्धकारी वक्तृत्व स यात्रा कर से पीडित हिंदू जनता की दुखगाथा का वणन ऐस प्रभावकारी एव करुणापूण शब्दों म किया कि उसे सुनकर दरबार के विदेशी राजदूत तो विस्मयचकित हुए ही और प्रत्यक्ष शाहजहा तथा दाराशिकोह की आखो म भी आसू भर आये। कवीद्राचाय जसे प्रसिद्ध विद्वान के मुख से हिंदू यात्रियो पर किये जाने वाले अत्याचार अयाय आदि का करुण वणन सुनकर शाहजहा तथा दाराशिकोह दोनो के हृदयमे दया उत्पन्न हुई और परिणाम स्वरूप उन्होने तत्काल यात्रा कर रद्द किये जाने की घोषणा की और प्रतिनिधि मडल के नेता कवीद्राचाय सरस्वती का विशेष सम्मान किया। कवीद्राचाय की वक्तत्व शैली, बुद्धिमत्ता विद्या की सभी शाखाओ पर उनका अधिकार एव अलौकिक व्यक्तित्व आदि बातो से प्रभावित होकर शाहजहां न उन्हे श्री सर्वविद्यानिधान पदवी से विभूषित किया। इसके साथ ही उन्हे दो सहस्र रुपया की वार्षिक वत्ति भी दे दी। इसी समय से कवीद्राचाय का शाहजहा के दरबार मे प्रवेश हुआ। दाराशिकोह न तो कवीद्राचाय को अपना गुरु ही मान लिया था।

यह घटना भारतीय इतिहास म अत्यन्त महत्त्वपूर्ण थी। समस्त हिंदू जनता इस विषय से हर्षोन्मत्त हो उठी। जिस यात्रा कर को हटाने म बडे बडे राजा उमराव भी असफल हुए प्रत्यक्ष काशीपति भी असमथ रहे उस अयायमूलक एव अपमानित यात्रा-कर को कवीद्राचाय सरस्वती ने बुद्धि बल से मुक्त किया। यह देखकर विद्वज्जगत म अतीव प्रसन्नता हुई। कवीद्राचाय सरस्वती के प्रति तत्कालीन भारत के समस्त विद्वानो न अपनी भावनाओ को व्यक्त करते हुए उनका अभिनदन किया जो कवीद्र चद्रोदय तथा कवीद्र चद्रिका' नामक ग्रथो के रूप म उपलब्ध है। कवीद्र चद्रोदय म मुख्यत सस्कृत श्लोक ही हैं। उसम मराठी श्लोक भी मिलते हैं परतु

१ Indian Antiquary year—1912, page 11

अत्यल्प मात्रा में। कवीद्र चद्रिका' में केवल हिंदी पद्यो का ही सग्रह है। 'कवीद्र चद्रोदय' तो प्रकाशित हुआ है परतु हिंदी अभिनदन ग्रथ 'कवीद्र चद्रिका' अब तक अप्रकाशित ही रहा। इसकी एकमात्र हस्तलिखित प्रति बीकानेर म सुरक्षित है।

'कवीद्र चद्रिका' में प्राप्त अभिनदन पदो के रचयिताओ की सख्या चालीस के आसपास है, जिनमे से बत्तीस व्यक्तियों के नाम मिलते हैं। शेष अज्ञात कवियो के लिए 'कस्यापि' कह दिया गया है। अभिनदन करने वाले व्यक्ति तत्कालीन प्रसिद्ध एव दिग्गज पडित थ। ज्ञात आचार्यों तथा कवियो के नाम इस प्रकार हैं—

१ सुखदेव कवि २ नदलाल कवि, ३ भीष कवि, ४ पडितराज, ५ रामचद्र कवि ६ कविराज ७ धर्मेश्वर ८ रघुनाथ कवि, ९ हरिराम, १० विश्वभर मथिल ११ शकर उपाध्याय, १२ भैरव कवि १३ सीतापति त्रिपाठी १४ मगद कवि, १५ गोपाल त्रिपाठी, १६ विश्वनाथ, १७ जीवन कवि १८ घनश्याम, १९ व्रजभूषन कवि २० लच्छीराम, २१ चिन्तामणि, २२ देवराम, २३ कुलमणि, २४ त्वरित कविराज, २५ गोविंद भट्ट, २६ जयराम कवि, २७ वशीधर २८ गोपीनाथ, २९ रामकवि, ३० यादवराय, ३१ जगतराय तथा अन्य नौ अनाम कवि।

'कवीन्द्र चद्रिका' वास्तव म कवीद्राचाय की कीर्ति चद्रिका ही है। इसम कवीद्राचाय सरस्वती के व्यक्तित्व के विभिन्न पहलुओ के सहजता से दशन हो जाते हैं। कवीद्र चद्रिका' के निम्नलिखित छदो मे हिंदुओ पर लगाये गये यात्रा कर की भयकरता, उसका हटान म इसके पूव किये गये प्रयत्न, बुद्धिबल से इस कठिन काय म कवीन्द्र द्वारा प्राप्त सफलता आदि का वणन है। कवींद्राचाय सरस्वती के प्रति जनता की भावना विशेष दशनीय है—

(१) ऐसो महाकार भारी भयानक
साहिजहान प्रयाग गह्यो है ॥
चक्रिको चक्र त्रिसूली को सूल
सुहाथ तें अजि को वज्र ठह्यो है ॥
सारसुती कवींद्र मुनींद्र उपेंद्र
मनों अवतार लह्यो है ॥
मेटि दयो कर दूरि भयो डर
भूपर ये जसु फलि रह्यो है ॥

(२) चारौं आश्रम श्रम करिके अनेक थक
तौहू साहिजहाँ जू के मन मे न आयो है ॥
जपबल, तपबल बुद्धिबल, विद्याबल,
जानि परकाज दरबार कहू धायो है ॥
कहैं सुखदेव सुरलोक नरनागलोक
जगत विदित पुन्य पुज जसु पायो है ॥

लिए अनेक लोगों ने प्रयत्न किये। अनेक बार प्रार्थनापत्र भेजे गये परन्तु यात्रा-कर न हट सका। अन्त में काशी के विद्वानों एवं पंडितों ने शाहजहाँ के पास एक प्रतिनिधि मंडल भेजा। उस समय काशी में पूर्णेंद्र सरस्वती, ब्रह्मेंद्र सरस्वती, अप्पय दीक्षित, विश्वनाथ पंचानन, भट्टाचार्य जैसे प्रसिद्ध पंडितों के होते हुए भी इस प्रतिनिधि मंडल का नेतृत्व कवींद्राचार्य सरस्वती को ही दिया गया। कवींद्राचार्य का दिल्ली दरबार से संपर्क, प्रभावी व्यक्तित्व, मोहित करने वाला वक्तृत्व, मधुर भाषिता, संस्कृत तथा हिंदी भाषाओं पर प्रभुत्व तथा हिंदू धर्म के प्रति उनकी असीम श्रद्धा आदि गुण विशेष से ही काशीस्थ पंडितों ने कवींद्राचार्य सरस्वती को प्रतिनिधि मंडल के नेता के रूप में चुना था।

नियोजित कार्यक्रम के अनुसार प्रतिनिधि मंडल को लेकर कवींद्राचार्य सरस्वती आगरे के किले में बादशाह शाहजहाँ के दरबार 'दीवाने-आम' में उपस्थित हुए। उस समय दरबार में इराक, इरान, बलख, बदक्शान आदि देशों के राजदूत भी उपस्थित थे।[1] कवींद्राचार्य सरस्वती ने अपने मुग्धकारी वक्तृत्व से यात्रा-कर से पीडित हिंदू जनता की दुखगाथा का वर्णन ऐसे प्रभावकारी एवं करुणापूर्ण शब्दों में किया कि उसे सुनकर दरबार के विदेशी राजदूत तो विस्मयचकित हुए ही और प्रत्यक्ष शाहजहाँ तथा दाराशिकोह की आँखों में भी आँसू भर आये। कवींद्राचार्य जैसे प्रसिद्ध विद्वान के मुख से हिंदू यात्रियों पर किये जाने वाले अत्याचार, अन्याय आदि का करुण वर्णन सुनकर शाहजहाँ तथा दाराशिकोह दोनों के हृदय में दया उत्पन्न हुई और परिणाम स्वरूप उन्होंने तत्काल यात्रा-कर रद्द किये जाने की घोषणा की और प्रतिनिधि मंडल के नेता कवींद्राचार्य सरस्वती का विशेष सम्मान किया। कवींद्राचार्य की वक्तृत्व शैली, बुद्धिमत्ता, विद्या की सभी शाखाओं पर उनका अधिकार एवं अलौकिक व्यक्तित्व आदि बातों से प्रभावित होकर शाहजहाँ ने उन्हें श्री सर्वविद्यानिधान पदवी से विभूषित किया। इसके साथ ही उन्हें दो सहस्र रुपयों की वार्षिक वृत्ति भी दे दी। इसी समय से कवींद्राचार्य का शाहजहाँ के दरबार में प्रवेश हुआ। दाराशिकोह ने तो कवींद्राचार्य को अपना गुरु ही मान लिया था।

यह घटना भारतीय इतिहास में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण थी। समस्त हिंदू जनता इस विषय से हर्षोन्मत्त हो उठी। जिस यात्रा-कर को हटाने में बड़े बड़े राजा उमराव भी असफल हुए, प्रत्यक्ष काशीपति भी असमर्थ रहे, उस अन्यायमूलक एवं अपमानित यात्रा-कर को कवींद्राचार्य सरस्वती ने बुद्धि बल से मुक्त किया। यह देखकर विद्वज्जगत में अतीव प्रसन्नता हुई। कवींद्राचार्य सरस्वती के प्रति तत्कालीन भारत के समस्त विद्वानों ने अपनी भावनाओं को व्यक्त करते हुए उनका अभिनंदन किया जो 'कवींद्र चंद्रोदय' तथा 'कवींद्र चंद्रिका' नामक ग्रंथों के रूप में उपलब्ध हैं। 'कवींद्र चंद्रोदय' में मुख्यतः संस्कृत श्लोक ही हैं। उसमें मराठी श्लोक भी मिलते हैं परन्तु

१ Indian Antiquary year—1912, page 11

अत्यल्प मात्रा में। कवींद्र चंद्रिका' में केवल हिंदी पद्यों का ही संग्रह है। 'कवींद्र चंद्रोदय' तो प्रकाशित हुआ है परंतु हिंदी अभिनंदन ग्रंथ 'कवींद्र चंद्रिका' अब तक अप्रकाशित ही रहा। इसकी एकमात्र हस्तलिखित प्रति बीकानेर में सुरक्षित है।

'कवींद्र चंद्रिका' में प्राप्त अभिनंदन पदों के रचयिताओं की संख्या चालीस के आसपास है जिनमें से बत्तीस व्यक्तियों के नाम मिलते हैं। शेष अज्ञात कवियों के लिए 'कस्यापि' कह दिया गया है। अभिनंदन करने वाले व्यक्ति तत्कालीन प्रसिद्ध एवं दिग्गज पंडित थे। ज्ञात आचार्यों तथा कवियों के नाम इस प्रकार हैं—

१ सुखदेव कवि, २ नंदलाल कवि, ३ भीष कवि, ४ पंडितराज, ५ रामचंद्र कवि ६ कविराज, ७ धर्मेश्वर, ८ रघुनाथ कवि, ९ हरिराम, १० विश्वंभर मैथिल ११ शंकर उपाध्याय, १२ भरथ कवि १३ सीतापति त्रिपाठी, १४ मगद कवि, १५ गोपाल त्रिपाठी, १६ विश्वनाथ, १७ जीवन कवि १८ घनश्याम १९ व्रजभूषन कवि, २० लच्छीराम, २१ चिंतामणि, २२ देवराम, २३ कुलमणि, २४ त्वरित कविराज, २५ गोविंद भट्ट, २६ जयराम कवि, २७ वंशीधर २८ गोपीनाथ, २९ रामकवि, ३० यादवराय, ३१ जगतराम तथा अन्य नौ अनाम कवि।

'कवींद्र चंद्रिका' वास्तव में कवींद्राचार्य की कीर्ति चंद्रिका ही है। इसमें कवींद्राचार्य सरस्वती के व्यक्तित्व के विभिन्न पहलुओं के सहजता से दर्शन हो जाते हैं। कवींद्र चंद्रिका के निम्नलिखित छंदों में हिंदुओं-पर लगाये गये यात्रा कर की भयंकरता, उसको हटाने में इसके पूर्व किये गये प्रयत्न, बुद्धिबल से इस कठिन कार्य में कवींद्र द्वारा प्राप्त सफलता आदि का वर्णन है। कवींद्राचार्य सरस्वती के प्रति जनता की भावना विशेष दर्शनीय है—

(१) ऐसो महाकार भारी भयानक
साहिजहान प्रयाग गह्यो है ॥
चक्रिको चक्र त्रिसूली को शूल
सुहाय तें सब्जि को व्रज ठह्यो है ॥
सारसुती कवींद्र मुनींद्र उपेंद्र
मनों अवतार लह्यो है ॥
मेटि दयो कर दूरि भयो डर
भूपर में जसु फैलि रह्यो है ॥

(२) चारो आश्रम श्रम करिके अनेक थके
तोहू साहिजहाँ जू के मन मे न आयो है ॥
जपबल, तपबल बुद्धिबल, विद्याबल
जानि परकाज दरबार कहूँ पायो है ॥
कहै सुखदेव सुरलोक नरनागलोक
जगत विदित पुन्य पुंज जसु पायो है ॥

जौन कर कासी को न कासीपति हूँ पै छूटयो
तौं कर कासी को कवीन्द्र जू छुड़ायो है ॥

(३) जेते राना राजा राई हिंदू सब उमराई
काहू पै कहो न जाइ साहि तेजु छायो है ॥
तीरथ प्रयाग कर कासी सी करी निडर
घरमों कर अकर करसो छुड़ायो है ॥
जगकी विपति नासी सब की कला प्रकासी
देवता किये सुवासी सिद्ध सुख पायो है ॥

इन छदो म यात्रा-कर की मुक्ति से जनता म जो प्रसन्नता हुई उसकी कल्पना की जा सकती है। साथ-ही-साथ इस बात का भी पता लगता है कि कवीन्द्राचाय सरस्वती द्वारा किया गया यह काय कितना महत्त्वपूण था। हिंदू समाज क लिए अपमानित एव घणित कर का मोचन करने वाले कवींद्र उसकी दृष्टि म रावण का नाश करने वाले श्रीराम, बली को पाताल म गाडन वाले वामन कौरवो की सभा म द्रौपदी की लज्जा रक्षा करने वाल श्रीकृष्ण गजेंद्र की मुक्ति करन वाल श्री विष्णु क समान धम रक्षक प्रतीत हुए। देखिए—

(१) औही है कवींद्र जिन राम ह्व रावण मारयो
वामन स्वरूप धरि बलि भूप ज छेरे ॥
औही है कवींद्र जिनि द्रौपदी की लाज राखि
गजकी गरज गजराज काज जे करे ॥
सत सुख करिबे को भूमिभार धरिवे को,
औहि है कवींद्र औनि आई औतेरे ॥

(२) परमेसुर के से प्रभाव प्रसिद्ध
सदा धरम प्रतिपाल करया ॥
पाप के चूरन है परिपूरन
तूरन सेवक सिद्ध सजया ॥
दुजन नासि अधम विनासि क
गो दुज तीरथ धम रखया ॥
का हुउ तो सो कवींद्र भयो
कलि को कवि को फिरो अत उवया ॥

(३) सत्यजुग त्रेता जुग द्वापर मे भयो नहीं,
जसे जसि एक यह कलि मे कवींद्र हुए ॥
साहिब सरस जाके दरस दरिद्र जात
कचन वरस विश्वनाथ कवि होइए ॥
उदित उदार सिरदार दान दयानिधि
धरम धुरधर पुरदर से हुए ॥

विश्वनाथ कवि मुक्ताफला सो फटिक सी
जग मे जुहाई सम जोहियति है भलो।
बेनी अरु कासी कारनाट लौं छुड़ाई कर
अकर कविंद्र इन्द्र कीयो है महाबलो ॥

(३) फलो रहे जस जायो जहान दसो
दसो दसि देसनि है छिती छाए ॥
पूरब पच्छिम दच्छिन को धुरि
उत्तर को नर भारी अहाए ॥

इन छदो से ज्ञात होता है कि कवींद्राचार्य सरस्वती की ख्याति कहाँ-कहाँ तक फली हुई थी। कवींद्र चद्रिका मे कवींद्राचार्य की कीर्तिलता का अनेक उत्कृष्ट छदो मे वर्णन मिलता है। इसमे कवींद्राचार्य सरस्वती के जीवन चरित विषयक सामग्री भी प्राप्त होती है। कवींद्र चद्रिका के आरम्भ ही मे जो छन्द हैं वे इस दृष्टि से द्रष्टव्य हैं—

(१) कासी और प्रयाग की कर की पकर मिटाइ
सब ही को सब सुख दिये श्री कवींद्र जस आइ ॥
सकल देसके कविनि मिलि कीनैं कवित्त अपार।
श्री कवींद्र कीरति करन तिन मे लीने सार ॥

× × ×

(२) पहले गोदातीर निवासी। पाछे आइ बसे श्रीकासी ॥
ऋग्वेदी असुलायन साखा। तिन मे प्रथ भयो है भाषा ॥
सब विषयनि सो भये उदास। बालपना म लयो सन्यास ॥
उनि सब विद्या पढ़ी पढ़ाई। विद्यानिधि सुकवींद्र गुसाईं ॥

प्रथम उद्धरण म कवींद्र चद्रिका के उद्देश्य का कथन है। द्वितीय उद्धरण म उनके जीवन विषयक कुछ कहा गया है जिससे ज्ञात होता है कि व महाराष्ट्रातगत गोदावरी नदी के तीरस्थ किसी ग्राम अथवा नगर के वासी थे। बाद म उन्होने वाराणसी मे निवासस्थान बनाया। वे ऋग्वेदी अश्वलायन शाखा के महाराष्ट्रीय ब्राह्मण थे और उन्होने हिन्दी भाषा म भी ग्रथ रचना की है। बाल्यावस्था ही म उन्ह सासारिक विषयों से विरक्ति होने से उन्होंने सन्यास ग्रहण किया था। उन्होने सभी प्रकार की विद्याओ का अध्ययन किया था। कवींद्राचार्य सरस्वती द्वारा रचित अन्य ग्रथा स भी इसकी पुष्टि होती है।

'कवींद्र चद्रिका अनेक दृष्टियो से महत्त्वपूर्ण ग्रथ है। एक तो अभिनन्दन ग्रथों की माला में अपने ढग का यह प्रथम ग्रथ है। इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि किसी महान व्यक्ति के लिए अभिनन्दन ग्रथ बनाने की पद्धति भारत म सत्रहवीं शताब्दी म उस समय प्रचलित थी जिस समय भारत क संस्कृत तथा हिन्दी के विद्वान अग्रेजी शिक्षा प्रणाली स कोसो दूर थे। दूसरी बात यह है कि इससे एसे अनेक अज्ञात कवि प्रकाश म आ गये हैं जिनके नाम तक हिन्दी जगत को मालूम नहीं हैं। तीसरी बात इनमे एसे कवियों के छन्द उदाहरणस्वरूप प्राप्त होते हैं कि जिनके केवल नाम ही

हिन्दी साहित्य के इतिहासों में मिलते हैं। इन कवियों के समय निर्धारण की समस्या भी कुछ अंश तक सरल हो सकती है। इसके अतिरिक्त इस ग्रंथ में भारत के सांस्कृतिक इतिहास की महत्त्वपूर्ण परन्तु विस्मृत घटना—कर विमोचन—के सम्बन्ध में भी कुछ विवरण मिल जाता है जो समकालीन प्रमाण की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है।

'कवींद्र चंद्रिका' न केवल ऐतिहासिक दृष्टि से ही महत्त्व का ग्रंथ है वरन् साहित्यिक दृष्टि से भी है। इसमें कवित्त, सवैया, दोहा, सोरठा, चौपाई, छप्पय आदि छंदों के उत्कृष्ट प्रयोग हैं। इनमें कुछ छंद साधारण हैं तो कुछ छंद काव्य की दृष्टि से उत्कृष्ट कोटि के भी हैं जिनमें भाव-सौंदर्य और कला-सौंदर्य दोनों दर्शनीय हैं। काव्य में अलंकारों का उपयोग भी प्रसंगानुकूल एवं सारगर्भित हुआ है। उदाहरण के लिए निम्नलिखित छंद देखिए—

कलि सरिता गंभीर माहि हठ महाग्राह
प्राग गज गह्यो नववाड एक घरी को।
ऐंचि लैवि थके सुखदेव प्रभु ध्यान कियो
कवि इन्द्र धायो अवतार मानों हरी को।
चातुरी सुदरसन डारि छुटकाइ दियो
पुन्य जसु लियो ऐसो दूजो महावरी को।
दिल्ली भरतार करतार को करे रोकर
कर यों छुडायो ज्यों कर-करी को।।

इसमें सांगरूपक का उत्कृष्ट निर्वाह हुआ है। कली रूपी गंभीर सरिता में प्रयाग-रूपी गज माहि हठरूपी महाग्राह से पीडित था जिसे कवींद्ररूपी हरी ने चातुरी-सुदर्शन से मुक्त किया। इसमें कली प्रयाग, माहिहठ, कवींद्र, चातुर्य इन प्रस्तुतों पर क्रमशः सरिता, महाग्राह हरी सुदर्शन इन अप्रस्तुतों का आरोप कर उनमें अभेदता दिखाया है। इस प्रकार कवीन्द्राचार्य की महनीयता दर्शाने के हेतु बांधे हुए निम्नलिखित रूपक को भी देखिए—

जगत सर भयो धम जल पूरि रह्यो
तामे कमल कवींद्र सोहै।
भवित पत्र ज्ञान बीज कोस
जप किंजल्क सील रस मोहै।
सबको बंधन तीरथ मे तीरथ को बंधन
काट्यो सोइ सुवास उपमा को है।
स्याम राम बानी चरो कहे निशिदिन
प्रफुल्लित याते जु हरि रवि सोहै।।

इस प्रकार 'कवींद्र चंद्रिका' में संकलित हिन्दी पदों में भाव तथा अलंकारों के अतिरिक्त ब्रजभाषा का माधुर्य, रसात्मकता, नादमयता, उक्तिवैचित्र्य आदि काव्योचित गुण भी दृष्टिगोचर होते हैं। ब्रजभाषा की इस अनूठी एवं महत्त्वपूर्ण काव्य-कृति के अब तक अप्रकाशित ही रह जाने से हिन्दी के पाठकों को इसका यथोचित रस ग्रहण करने से वंचित ही रहना पड़ा था।

१२ | मराठी लोककवियो की हिन्दी रचनाएँ

महाराष्ट्र ने हिंदी भाषा की ओर सदव आदर की दृष्टि स देखा है। यहाँ हिंदी को राजाश्रय तथा लोकाश्रय दोना प्राप्त हुए। यहाँ क प्रसिद्ध सत ज्ञानेश्वर, एकनाथ, नामदेव, तुकाराम, रामदास आदि ने स्वयस्फूर्ति स सपूण भारतभर का जनता तक अपने सदेश हिंदी पद रचना के माध्यम से पहुँचाने का प्रशसनीय प्रयत्न किया। जयराम चितामणि, भूषण, मतिराम, कविकलस सीताराम महापात्र लोक मणि मिश्र आदि हिंदी कविया को तत्कालीन महाराष्ट्र शासका न उदार राजाश्रय देकर हिंदी के प्रति अपना प्रेम प्रकट किया। इतना ही नहा शिवाजी सभाजी तजावर के शहाजी जसे राजाओ न स्वय हिंदी भाषा म रचना कर हिंदी साहित्य समद्धि म योगदान दिया। पेशवाओ के शासन काल म तथा उनके पश्चात भी रामजोशी, अनत फदी, होना जी बाला, सगन भाऊ प्रभाकर परशराम आदि महा राष्ट्रीय लोक कवियों ने मराठी के साथ साथ हिंदी भाषा म भी पवाड तथा लावनिया की रचना की है। इस प्रकार अनुसधान म प्राप्त उपलब्धियो से यह स्पष्ट दिखायी द रहा है कि महाराष्ट्र की जनता ने हिन्दी भाषा का कभी विरोध नही किया प्रत्युत इसे अन्त प्रातीय भाषा के रूप मे बडी प्रसन्नता से स्वीकार किया।

महाराष्ट्र की लोककाव्य परम्परा

महाराष्ट्र की लोककाव्य परम्परा अत्यत उज्ज्वल है। मराठी लोक साहित्य का शाहिरी साहित्य भी कहा जाता है। इसके अतगत प्रमुख रूप से पवाडे लावनिया तथा तत्सम लोक गीतो का समावेश होता है। पवाडा अथवा पोवाडा महाराष्ट्र का प्रसिद्ध लोकछद है। अपनी शली तथा विषय वस्तु की दृष्टि से राजस्थानी चारणो की बिरुदा वली शली के समस्त तत्वा से पूरित होकर विशुद्ध वीररसात्मक के रूप म सामान्यत मान्य है। पवाडा डफ तुनतुनिया वाद्या के सहयोग स ऊँची आवाज म गाया जाता है।

कोश के अनुसार पवाडा शब्द का अथ है वीरो क पराक्रम विद्वाना की बुद्धि अथवा किसी की शक्ति, गुण कौशल के काव्यात्मक वणन प्रशस्ति स्तुति स्तोत्र। कहा जाता है कि यह शब्द लगभग एक हजार वष पूव से मराठी भाषा म प्रयुक्त होता आ

रहा है। कुछ विद्वान 'पवाड' को 'प्रवाद' शब्द का अपभ्रष्ट रूप मानते हैं। 'प्रवाद' का अर्थ है जोर से कहना, जनरव किसी को दी जाने वाली सूचना या मिथ्यारोप। मराठी भाषा में प्रवाद शब्द का प्रचलन मिथ्यारोप के अर्थ में ही विशेष होता है, अतः यह व्युत्पत्ति मेरी दृष्टि में समीचीन नहीं दीख पड़ती। महाराष्ट्रीय शब्दकोष के अनुसार पवाडा प्राकृत शब्द है। ब्रज में यही लोकछंद 'पमारा', मालवा में 'पँवारा' और बुंदेलखंड में एक लंबी कहानी के लिए प्रचलित है। ब्रज में पमारा सभी अवदान के (अच्छे कार्य, शुद्धाचरण) रूप में है। कहते हैं पँवारा या परमारों के प्रशस्ति गीत को ही संभवतः पँवारे कहा जाता है। ब्रज में जगदेव का पँवारा 'जयमल पत्ते का पँवारा' तथा मालवा में 'कुँवर सिंह का पँवारा' विशेष उल्लेखनीय लोकगीत माने जाते हैं।

लोक साहित्य का दूसरा प्रमुख गीत प्रकार है लावणी (लावनी)। यह मराठी का अपना विशेष काव्य प्रकार माना जाता है। इसकी व्युत्पत्ति लापनिक, लापणिक, लवण लावण्य आदि शब्दों से बतायी जाती है परन्तु निश्चित निष्कर्ष अभी तक प्राप्त नहीं हुआ। संगीतराग कल्पद्रुम के अनुसार 'लावणी यह एक उपराग है'। यह देशी राग के अंतर्गत माना गया है। उदाहरणार्थ—लावनी भूपाली लावनी देशी, लावनी जंगला, लावनी रेखता आदि। लावनियों में वैराग्य से लेकर शृंगार तक और प्रशस्ति से लेकर शृंगार तक अनेक विषयों का वर्णन किया जाता है। मराठी लावनियों के साथ-साथ हिंदी लावनियों की रचना शाहीरों ने की है। हिंदी साहित्य में भी इसी तरह की लावनियाँ मिलती हैं। भारतेंदु काल में लावनीबाजों के दंगल या स्पर्धाएँ उसी तरह होती थी जैसे महाराष्ट्र में हुआ करती थी। स्वयं भारतेंदु ने भी लावणियों की रचनाएँ की हैं जो 'फूलों का गुच्छा', प्रेम तरंग', प्रेम प्रलाप आदि ग्रंथों में संगृहीत है। कुछ लावनियाँ 'रेखता' अर्थात उर्दू प्रभावित ढंग की हैं।

तुझे कोई काबे में हाजिर कोई दर में बतलाता
भूले हैं सब असल में बेशक इनके एक पड़ा॥

—भारतेंदु

कुछ लावनियाँ प्रचलित ब्रज भाषा में भी की हैं जैसे, 'मोहिं मोहिं प्रान प्रिय कहूँ अनत अनुराग। प्रतापनारायण मिश्र तो मराठी शाहीरा की तरह लावनीबाजों की संगति में रहते थे और लावनियों की रचना भी करते थे।

मराठी लोकसाहित्य के अन्तर्गत जो तीसरा प्रकार लिया जाता है उसमें भजन, पद, भारूड, ललित गोंधल आदि प्रकार के लोक गीत समाविष्ट किए जाते हैं जो अक्सर डफ, तुनतुनियों के सहयोग से जनता में गाये जाते हैं।

लोक-काव्य का अंतरंग

लोक काव्य के रचयिता जनसाधारण के प्रतिनिधि होते हैं। उनमें से अधिकांश रचयिता अशिक्षित तथा सभ्यता से दूर रहने वाली जातियों में से होते हैं। अलंकृत

काव्य के रचयिताओं की भांति ये कवि काव्य शास्त्र के नाता भी नहीं रहते। इनका काव्य जन रंजन के हेतु निर्मित हृदयोद्गार हैं। इसमें सहजता, स्वाभाविकता एवं सरलता रहती है। इनके काव्य में भाव सौंदर्य की कमी नहीं है भले ही कला पक्ष प्रबल न रहा हो। मराठी लोककवियों की हिंदी रचनाओं में शृंगार के वर्णन के अतिरिक्त इतिहासपरक, सामाजिक, आध्यात्मिक रचनाएँ भी उपलब्ध होती हैं। यहाँ उदाहरण के रूप में कुछ छंद प्रस्तुत कर रहा हूँ जिनसे इन कवियों की हिंदी रचनाओं के भाव सौंदर्य, कला सौंदर्य तथा भाषा-सौंदर्य की कल्पना हो सके।

विप्रलंभ शृंगार

मराठी लोक कवियों की रचनाओं में विप्रलंभ शृंगार का वर्णन अधिक मात्रा में दृष्टिगोचर होता है। सूर तथा मीरा के पदों में व्यक्त की गई वेदना का भाव सादृश्य कतिपय स्थलों पर द्रष्टव्य है। प्रियतम के बिना जीवन भार-सा लगता है। हृदय में दुःख समा नहीं पाता। उसे व्यक्त करने के लिए योग्य सहृदय व्यक्ति तक नहीं मिलता। ऐसी स्थिति में न खाना अच्छा लगता है न पीना। बहुत दिन हुए पर पिया नहीं आया। उस निर्मोही ने कुछ खबर तक नहीं भेजी। उसके विरह में नायिका उसी तरह तड़प रही है जैसे जल बिना मछली। अन्त में प्यारे को एक पत्र लिखकर अपने गुनाहों को क्षमा कर देने की प्रार्थना करती है। बाला भयरु की इस नायिका का वर्णन मीरा के एक प्रसिद्ध पद की स्मृति दिलाता है।

> जाऊं सखी कुई बमन बुलाबू केंगर पतिया लिखो।
> गुना नहीं तकसीर हमारा इतनी अर्जी लिखो।
> मैं समरन म सदा भजन मे अपनी म्हेर रखो।
> जल बीन जसी मछेली जसी मैं दरसन की भूकी पयासी॥

विरह से पीड़ित नायिका अपनी विरहाग्नि पर पिया मिलन की आशा के जल का सदैव सिंचन करती आयी है। एक न एक दिन उसका प्रियतम अवश्य आयेगा इस मधुर कल्पना से वह सुख की साँस लेना चाहती है परन्तु कामदेव उसे सुख की नींद क्यों लेने देंगे? वे तो शर संधान का कार्य कर ही देते हैं और फिर विरहिणी नायिका की सुप्त कामवासना जागृत हो जाती है। उसे अपने यौवन का स्मरण होता है। वह चार घड़ी रहने वाली यह क्षणभंगुर जवानी व्यर्थ कैसे जाने देगी? इसी तरह शाहीर प्रभाकर की एक काम पीड़ित विरहिणी नायिका अपनी अंतरंग सखी से कहती है—

> जा सखी पीतम लावो घर वेग बुलावो॥
> नयन दीदार तूफानी। दो भवा कमानी।
> भरी भरपूर जवानी। मैं भई री दीवानी॥
> लाल की रीत पछानी। रखो होगी विरानी।
> ताको चित्त लुभावो। जा सखी प्रीतम लावो॥

बात सुनी सौकन की । भई अगन तन की ।
ज्वानी घरी पल छन की । फिर नहीं आवन की ।।
अधरामिरत पिलावो । जा सखी पीतम लावो ।।"

—प्रभाकर

संयोग शृंगार वर्णन

अपने प्रियतम की आशा में नायिका बैठी है । बहुत प्रतीक्षा करने पर भी प्रीतम नहीं आता । प्रतीक्षा करते-करते आँख लग जाती है । सपने में भी वह पिया मिलन का सुख अनुभव करती है । अत्यंत प्रसन्नता से और हँसी-खुशी से रात भर वे दोनो मीठी मीठी बातें करते रहते हैं । उसी खुशी में पिया से आलिंगन भी किया जाता है जिसमें नायिका की मानिया की माला टूट जाती है । बिखरे हुए मोतिया को चुनने के लिए ज्यों ही नायिका उठती है त्यों ही उस प्रीतम की अनुपस्थिति का वास्तविक भान हो जाता है और होनाजी का विरह से व्याकुल नायिका पिया पिया पुकराते हुए दरवाजे तक दौड़ती आती है ।

सपने मे री सन की बहार पिह्या ने लूटी ।
मैंनी सग होकर नीपट गले सो लपटी ।
खूब हुई दोनों की बात रात की मीठी ।
मैं हँसी खुषी से अग पर उनके लेटी ।
इतने मे मातनमाल हमारी तुटी ।
मोती चूनो खातर चमक उठी ।
तब पास पिया नहीं देखी सुनी पलगड़ी ।
पिहु पिहु पुकारत दरवाजे लग दवड़ी ।।

—होनाजी बाला

नायक वर्णन

रात का समय है। चाँद की शीतल चाँदनी धरती पर छिटकी है। ऐसे सुंदर वातावरण म नायक अपनी प्रिया से मिलने के लिए सज धज कर आता है। सिरपर सफेद सी पगड़ी सिरपेंच की चमक, उसम लगाये हीरो की शोभा, मुँह मे बीडा आदि बातें विशेष द्रष्टव्य हैं। नायक को आंगन म खड़ा देखते ही नायिका का मनमयूर खुशी से नाच उठता है। मिलने की तीव्र इच्छा होने पर भी वह अपने स्वभावानुसार मान करना चाहती है। होनाजी बाला की यह नायिका अपनी सखी से प्रियतम की ओर सकेत करती हुई कहती है—

चांदना पडा था री चांदना पडा था।
अरी देखो सहेली महलो आगन पुरख (पुरुष) ।
नीचे तर को कोण खडा था। टेक ।।
सफेद-सी सिर पर पगडी थी।
सिर पेंच की चमक बडी थी।

हिरे और हिरकण्या(?) जडी थी।
लाल साथी में पिछु से बिघडी थी।

—होनाजी वाला

शृंगारिक लावनियों के साथ साथ कुछ विनोदपूर्ण लावनियाँ भी मिलती हैं। अनंत फंदी की एक विनोदपूर्ण लावनी देखिए जिसमें पति-पत्नी के झगडे का वर्णन बड़ी चतुराई से किया गया है। उस झगडे को देखने के लिए बडी भीड लगी है। लोग एक-दूसरे पर धक्का-धक्की गिरते थे। पति अधिक कमाता नहीं। सारा दिन घर पर बैठ कर ही बिताता है। पत्नी चरखा चलाकर कुछ कमाई करती है और उसे खिलाती है। लेकिन उसकी कमाई पर्याप्त न होने से कई बार रात में फाके तक पड जाते हैं। इसी से तंग आकर पत्नी अपने पति को भाडे हाथों लेती है। पत्नी की यह फटकार भला पति क्यों बरदाश्त करे? वह भी आवेश में आकर उसमें अपनी वीरता तथा महत्ता का वर्णन कर यह दिखाता है कि पत्नी की कमाई न के बराबर ही है। पति की तीखी व्यंग्य भरी बातों को सुनकर पत्नी भी क्रोध के मारे कुछ कह उठती है और पति को निरुत्तर करती है। उदाहरण देखिए—

जोरू खसम का कज्या सुनो हा रा लडते फिरते ते।
बडा हजावा उडा एक पर एक धवा धव गिरते ते ॥ टेक ॥
खाने पिने के तपनाई ये तो नाका दिन निकला।
मारा पनो भला न किया मजपर उटा हागवरा।
सारा घर दिन मुला एडू स्थि नहीं करता भुका (ब) ला।
मय चरखे के कमाई यहा लाग तुझे खिलाऊ नवुलाता ॥
तू क्या कमाती फत्तर चुडल क्या करती हाय हाय ॥
एसे लग कर जुवा भाइ एक बाल नहि रहने पाय।
क्या पशम चरखे के कमाई हाम सिपाई हार गिसाग खाय।
करर किच मारे तलवारा लोह खना खन तुटवा जाय।

इस विवादपूर्ण लावनी में ग्राम्यता अवश्य है परन्तु इसमें विनोद के साथ साथ एक महत्वपूर्ण सामाजिक तथ्य का भी परामर्श किया गया है। निठल्ले तथा निकम्मे पति के प्रति कमाने वाली पत्नी की प्रतिक्रिया का भी संकेत देने का प्रयत्न किया गया है।

कृष्ण विषयक लावनियाँ

शाहीरों की हिंदी लावनियों में कृष्ण विषयक शृंगार प्रधान लावनियाँ भी मिलती हैं जिनमें रीतिकालीन शृंगार की झलक स्पष्ट दिखायी देती है। वृंदावन में यमुना के किनारे गोपियों का पानी भरने जाना, कन्हैया की मधुर मुरली की आवाज सुनते ही आकृष्ट होना, कृष्ण की सखियों से छेडछाड आदि बातों का समावेश कृष्ण विषयक सभी लावनियों में पाया जाता है। होनाजी की यह लावनी द्रष्टव्य है—

किने मुरली बजायी गररर गिरकी आयी री।
मुजे जल भरनेकू जाना ये हाक नहाक सताता कान्हा।

मैंने खूब बताया बहाना, देख रे सास मेरी बहीरी।
क्या किया मुझे तेरा जान दे छोड पल्लोड मेरा।

इतिहास विषयक रचनाएँ

इन शाहीरों की रचनाओं में कुछ ऐसे भी हिन्दी पावाडे प्राप्त होते हैं जिनका ऐतिहासिक दृष्टि से बहुत ही महत्त्व माना जाता है। अनंत फन्दी का एक पवाडा इस दृष्टि से बहुत ही महत्त्वपूर्ण है जिसमें सवाई माधवराव पेशवा के शासन-काल में नाना फडणवीसका किस तरह महत्त्व था यह बताकर तत्कालीन राजनीतिक स्थिति का भी वर्णन किया है। उदाहरण—

सवाई माधवराव सवाई सवाई डंका बजाया।
फडणवीस नाना की तारीफ अक्कलने तो गजब किया।
बिन धार से राज्य चलाया ना किसे चकमक झडी।
हंस मुत्सदी चप गये बस भये नाना की तो अकल बडी।
दिल्ली अटक लाहोर माहोर कर्नाटक बीच पुकार पडी।
चारों तरफ तजेला निकला चद ऐसी फिरत बडी।

—अनंत फन्दी

समाजपरक रचनाएँ

शाहीरों की हिन्दी रचनाओं में कई स्थानों पर महाराष्ट्र समाज जीवन प्रतिबिम्बित हुआ है। कहीं नायिका के अलंकार वर्णन में तो कहीं नायक की वेशभूषा में कहीं किसी उत्सव के वर्णन में तो कहीं किसी स्थान विशेष के वर्णन में, तत्कालीन महाराष्ट्र के जन-जीवन के विविध पहलुओं के दर्शन होते हैं। होनाजी की एक नायिका विरक्त होकर अपने अलंकार दान में देना चाहती है।

चन्द्रकोर शिसफुल मे झुमकेदार मचनी।
मोहनमाला और हातसर पदक्या कगनी।
चिंचपेट्या अंगोठ्या जडाव अवोर हिरकनी।
दे डाला सबकू सोता सोता तोला।

एक लावनी में पूना शहर की समृद्धि का वर्णन किया गया है—

पुना शहर निमोंमा श्रीमंतराव पेशवों का।
बहार बडी बस्ती थी (थी) कि यारो अलम सुन (च) र ब्हाका।
बगले दिवाणखाने बडा ओर बांधा वाका।
नल कारंजे हौद बनाये जागे जागे
चौको भरे हौद बलको तारीफ बडो हाय।
जोगेसरी, बेलबाग, मुरलीधर तुलसी बाग सज्लो॥

अंतिम पंक्ति में सभी स्थल आज भी पूना शहर की समृद्धि में गिनाये जाते हैं।

आध्यात्मिक रचनाएँ

इन कवियों ने लौकिक विषयों के साथ साथ आध्यात्मिक विषयों पर भी कुछ रचनाएँ की हैं। इनकी अध्यात्म विषयक हिन्दी रचनाओं में नाथपंथ, सूफी सम्प्रदाय

अद्वैतवाद आदि का प्रभाव दिखायी देता है। 'कलगी-तुरा' ये दो शब्द विशेष अर्थ के लिए प्रयुक्त किये जाते थे। 'कलगी' पक्ष में वे लोग रहते थे जो शक्ति के उपासक थे और 'तुरा' पक्ष में उन लोगों का समावेश होता था जो शिव की उपासना करते थे। होनाजी, परशराम, राम जोशी ये शाहीर तुरा पक्ष के तथा सगनभाऊ, हैवती, पठ्ठे बापूराव आदि शाहीर कलगी पक्ष के माने जाते हैं। प्रभाकर तथा अनंत फंदी इन वादों से अलिप्त रहे थे। शाहीरों की आध्यात्मिक रचनाओं का विस्तृत विवरण देना इस सम्बन्ध में उचित न होगा। अतः प्राप्त हिंदी रचना के कुछ आध्यात्मिक उदाहरणों से कल्पना की जा सकेगी।

'लाली मेरे लाल की' कहने वाले कबीर की स्मृति लहरी सिद्राम की इस कविता से होती है—

लाली लाल बनी मतवाली छबीदार छबीली
लाली लाल मेरे बनमाली मैं तेरी लाली।

परशराम की एक आध्यात्मिक लावनी विशेष उल्लेखनीय है। उसमें परमात्मा रूपी प्रियतम से मिलने के लिए जीवात्मा रूपी प्रियतमा अत्यंत उत्सुक है। प्रियतम का घर बहुत ही दूर है। उसे चिंता है कि वह प्रियतम के घर जल्दी पहुंच सकेगी या नहीं।

घर दूर पिह का कभी पोचुगी सखी।
नहीं जहान भर मों मेरे सरीख दुखी।
तीन लाल सुनेरी महल पि का बना।
नव दरवाजे पर काम किया रंग मिना॥

परशराम की दूसरी आध्यात्मिक लावनी तो इससे भी अधिक प्रभावोत्पादक है—

नयन चोर इस तनमो जी लागी।
हैठ जी होना लठ बरागी।
ऐसी जादू बुरी दिवानी टुक दर्शन देती जागी
इंद्र चंद्र किया जनम का रोगी॥ ध्र॥
किये सोल सिनगार गले में गज मोतन के हार लटके।
सफेत अंगिया उपरी बुटे जरी के गगन ग्याने सारे भटके।
जब किया ननो ने छबिली जहा बिजली आज तुट पडे।
चंद्र सुरज दो बाजू उज्जाले करनफुल कानों में जडे।
नाजुक पतली कंबर तेरी जोबन जसे गेंद चढे।
खडी महल पर मुख म्लान तेरे देखन खातर रह्या अडे॥ध्र॥

हिंदी मराठी मिश्रित रचनाएँ

लोककवियों की हिंदी रचनाओं में कुछ रचनाएँ ऐसी हैं जिनमें कहीं कहीं मराठी शब्द दिखायी देते हैं जिनका अहिंदी भाषी कवि की रचना में आना स्वाभाविक

है। लेकिन कुछ रचनाओ मे एक पंक्ति हिंदी तो दूसरी मराठी इस तरह का क्रम भी पाया जाता है। कही कही प्रथम पंक्ति अर्थात् टेक मराठी तो सारी रचना हिंदी मे लिखी जाती है। इस तरह का वैचित्र्य देखकर आश्चर्य अवश्य होता है। एक तो शाहीरो ने ऐसी रचनाशैली वैचित्र्य के रूप मे की होगी, नही तो ऐसे समूह के सामने गायी होगी जहा कुछ लोग हिंदी और कुछ लोग मराठी जानते हो। निश्चित कारण बताना कठिन ही है। हिंदी मराठी मिश्रित यह रचना भावात्मक ऐक्य प्रस्थापित करने में अवश्य मदद देगी। एक शैली विशेष के रूप मे ऐसी रचना साहित्य में विद्यमान रहेगी।

लहरी सिद्राम की ऐसी ही हिंदी मराठी मिश्रित रचना देखिए—

हाय मेरे लालन कहाँ गडे। आज मरन बाई ॥ध्रु॥
हाय रे लाल बिना दुनिया सारी। सुनी दिसे मजला।
लगी जी प्रेम की कटियारी। व्याकुल जीव झाला।
पिहू पिहू मैं पुकारी। कंठी प्राण उरला।

इसी प्रकार शाहीर प्रभाकर की भी एक रचना द्रष्टव्य है—

लाव खजोर सिर काट धरू। धीर धरवत नाहीं ॥ध्रु०॥
दाग लगाके पिहू पाछे। मज टाकून गेला।
यार कहो तुम तोबी। गुन्हा कधी त्याचा केला॥
कोन लगा प्यारा किसो ने। मन यालूम नेला॥
बार कलिजे पार लगा। कशी वाचेन बाई॥

राम जोशी ने तो इससे भी विचित्र प्रकार की रचना की है। उनकी एक ऐसी लावनी मिली है जो संस्कृत, प्राकृत, कन्नड और हिंदी इन चारो भाषाओ के मिश्रण से बनी है। इससे उनका चारो भाषाओ पर कितना प्रभुत्व था यह सिद्ध हो जाता है। यह विचित्र शैली भी एक आकर्षण की वस्तु है—

मुंच मुंच वेलाधर मधुना। नदाख्या पोरा।
हिडनिन तविग मन्याण। पिहुजन बहुत बुरा मेरा॥
तिष्ठ तिष्ठ सखी। इनुको रागाने कागे बोलो।
ना गोकुलपति निनम्याल, सखी सुनरी अलबेलो॥
त्व तु रमे मयाचिता। न को भाव धरू दुसरा।
इष्ट मात निम्न केलु दिम्ला। सखी क्यो उतर गया चेहरा॥

—राम जोशी

लोककवियों की हिंदी भाषा का स्वरूप

मराठी लोककवियों की उपलब्ध हिंदी कविताओ का भाषा की दृष्टि से विचार किया जाए तो सामान्यत दो विभाग किये जा सकते हैं। एक विभाग उन रचनाओं का हो सकता है जिसमे दक्खिनी हिंदी का रूप दिखायी देता है। द्वितीय

विभाग उन रचनाओं का हो सकता है जिनमें मराठी शब्दों की बहुलता दिखायी पड़ती है। इन कवियों की अधिकांश रचनाओं की भाषा में लगभग वे ही विशेषताएँ दिखायी देती हैं जो दक्खिनी हिन्दी में पायी जाती हैं।

उत्तर भारत की बोलचाल में जहाँ एक ही शब्द में दो मूर्धन्य ध्वनियाँ पास पास में प्रयुक्त होती हैं, वहाँ दक्खिनी में पहली के स्थान में दन्त्य ध्वनि आ जाती है जैसे टूटी, टटा, ठगी, ढूंढना के स्थान पर क्रमश तुटी तटा थगी, धुंडना के रूप मिलते हैं।

स्टैण्डर्ड खड़ी बोली में जहाँ शब्द के मध्य का दीर्घ व्यंजन ह्रस्व हो गया है और प्रतिकार में पूर्ववर्ती स्वर दीर्घ, वहाँ दक्खिनी हिन्दी में बहुधा व्यंजन दीर्घ हो पाया जाता है और पूर्ववर्ती स्वर ह्रस्व यथा सोता चूना पीटा के स्थान पर क्रमश सुत्ता, चुन्ना, पित्ता ये रूप मिलते हैं।

दक्खिनी हिंदी में महाप्राण ध्वनियाँ बहुधा अल्प प्राण में मिलती हैं यथा— दस्त पिघलना कुछ पीछे समझना मुझे तुझ मिठाई पढ़ना हाथ हाथी आदि इन हिंदी शब्दों के स्थान पर क्रमश देर पिगलना कुच पिच समजना मुज तुज मिटाई पडना हात हाती आदि शब्दों के रूप मिलते हैं।

उपर्युक्त दक्खिनी हिन्दी की लगभग सभी शब्दावली मराठी लोक कवियों की रचनाओं में पायी जाती है। व्याकरण की दृष्टि से भी इनकी हिन्दी रचना दक्खिनी हिन्दी के अधिक नजदीक दिखायी देती है।

इन कवियों की हिंदी रचनाओं में जहाँ इश्क हकीकत महर कसम करया हाजा, कलेजा माशूक जैसे अरबी फारसी शब्द मिलते हैं वहाँ ताको मोहि पनिया, पीतम मोनलाल, पिया भया भई बजरा आवनकी मोहे सवरियाँ जैसे ब्रज भाषा के शब्दों की भी कमी नहीं है। शाहीरों की मातृभाषा मराठी होने से तलमलना लास नरम हिरकण्या तेरी सासु दिवाणखाना पाणी आवडना धुना चिचपेट्या कनागना आदि मराठी शब्दों के तत्सम तद्भव या विकृत रूप भी कम या अधिक प्रमाण में पाये जाते हैं। संस्कृत के तत्सम शब्द भी पर्याप्त मात्रा में मिलते हैं। कहीं कहीं भाषा तथा रचना की भी अशुद्धियाँ पायी जाती हैं। अधिकांश लोक कवि अल्पशिक्षित थे। वे बोलने की भाषा अधिक अच्छी जानते थे और साहित्यिक भाषा कम। उन्होंने अपनी मराठी रचनाओं में भी शुद्धता का ख्याल नहीं किया तो हिंदी की बात ही क्या?

महाराष्ट्रीय लोककवियों की हिंदी कविता का खड़ी बोली के पूर्व रूप की दृष्टि से अत्यंत महत्व है। इससे डाक्टर धीरेन्द्र वर्मा जी के मत की पुष्टि करते हुए कहना पड़ता है कि हिंदी भाषा का विकास और उसमें साहित्य रचना का कार्य केवल उत्तर भारत में नहीं हुआ है बल्कि दक्षिण भारत की मुसलमानी रियासतों उनके शासकों उनके दरबार के तथा अन्य साहित्यिकों की भाँति महाराष्ट्र का भी उसमें बहुत महत्वपूर्ण हाथ रहा है।

१३ | महाराष्ट्र के प्रमुख धर्म-सम्प्रदाय

ईसा की सत्रहवीं-अठारहवीं शताब्दी तक महाराष्ट्र में साधु-संतों की एक अखंड परंपरा सी दृष्टिगोचर होती है। महाराष्ट्र में 'संत' शब्द व्यापक अर्थ में प्रयुक्त किया जाता है। उत्तर भारत की परंपरा के अनुसार केवल 'निरगुनिया' को यहाँ संत ही नहीं माना जाता प्रत्युत सगुणोपासक भक्तों का भी उसमें समावेश रहता है। महाराष्ट्र के धर्म जीवन में आध्यात्मिक अधिष्ठान निर्माण करने का कार्य मराठी संतों ने ही किया। उस समय की विभिन्न प्रवृत्तियों का समन्वय कर इन्होंने मराठी जनता में अध्यात्म निष्ठ मानवतावाद की एक उदार एवं प्रगतिशील विचार प्रणाली प्रतिष्ठित की।

महाराष्ट्र में समय समय पर बौद्ध जैन, लिंगायत, नाथ, महानुभाव, दत्त, समर्थ वारकरी आदि विभिन्न धर्म पंथों तथा सम्प्रदायों का प्रचार हुआ। इन सम्प्रदायों ने विशिष्ट स्थिति तथा समय में यहाँ की जनता को प्रभावित तो किया परंतु अनेक कारणों से उनका यह प्रभाव महाराष्ट्रीय जनता पर अंत तक न रह सका। केवल वारकरी-सम्प्रदाय जैसे सर्वव्यापक धर्म सम्प्रदाय का प्रभाव यहाँ की जनता में प्रभूत मात्रा में पाया जाता है और इसलिए उसे महाराष्ट्र का प्रतिनिधि धर्म-सम्प्रदाय माना जाता है। इसका अर्थ यह नहीं कि महाराष्ट्र में केवल वारकरी सम्प्रदाय का ही प्रचलन है। उपर्युनिर्दिष्ट अन्य धर्मपंथों एवं सम्प्रदायों का प्रचलन भी न्यूनाधिक मात्रा में अवश्य रहा। महाराष्ट्र में प्रचलित प्रमुख धर्म सम्प्रदाय ये हैं—(१) नाथ सम्प्रदाय, (२) महानुभाव सम्प्रदाय, (३) वारकरी सम्प्रदाय, (४) दत्त सम्प्रदाय, और (५) समर्थ सम्प्रदाय।

नाथ सम्प्रदाय

भारत के अन्य प्रान्तों की भांति महाराष्ट्र में भी नाथ सम्प्रदाय को सूब मान्यता मिली थी। ज्ञानेश्वर की गुरुपरंपरा से यह निश्चित हो जाता है कि महाराष्ट्र में इस पंथ का प्रचलन ज्ञानेश्वर के अर्थात ईसा की तेरहवीं शताब्दी के पूर्व से था परन्तु इस सम्प्रदाय का वास्तविक संचार कब से प्रारंभ हुआ, इसके संबंध में विद्वानों में मतभिन्नता पायी जाती है। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी[1] महाराष्ट्र में नाथ सम्प्रदाय

---

१ नाथ सम्प्रदाय—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी (सन १९५० ई०), पृ० ९६ ९८

या संतारवास विक्रम की दसवीं शताब्दी मानते हैं तो डॉ० पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल[1] विक्रम की ग्यारहवीं शताब्दी। मराठी के प्रसिद्ध अनुसंधानकर्ता श्री ढेरे महाराष्ट्र में इस पंथ की अविच्छिन्न परंपरा का वास्तविक श्रेय गोरखनाथ के शिष्य गहिनी अथवा गैनीनाथ को देते हैं।[2]

नाथ सम्प्रदाय के लोगों को साधारणतः नाथ, जोगी, दर्शनी तथा कनफटा कहा जाता है। नाथ शब्द के प्रचलन का स्पष्टीकरण डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है—'ना' का अर्थ है अनादि रूप और 'थ' का अर्थ है (भुवनत्रय) स्थापित होना। इस प्रकार 'नाथ' मत का स्पष्टार्थ वह अनादि धर्म है जो भुवनत्रय की स्थिति का कारण है। श्री गोरक्ष को इसी कारण से 'नाथ' कहा जाता है। फिर 'ना' शब्द का अर्थ नाथ ब्रह्म जो मोक्ष-दान में दक्ष हैं, उनका ज्ञान कराना है और 'थ' का अर्थ है (अज्ञान के सामर्थ्य को) स्थगित करने वाला। चूंकि नाथ के आश्रयण से इस नाथ-ब्रह्म का साक्षात्कार होता है और अज्ञान की माया अवरुद्ध होती है इसलिए 'नाथ' शब्द का व्यवहार किया जाता है[3]। इन्हें 'जोगी' इसलिए कहा जाता है कि ये लोग हठयोग की साधना करते हैं और 'दर्शनी' इसलिए कहा जाता है कि ये कानों में भारी कुंडल धारण करते हैं। इनके कान फटे हुए होते हैं इसलिए ये कनफटे कहलाते हैं। महाराष्ट्र में इन्हें 'गोसावी' भी कहते हैं[4]।

नाथ-सम्प्रदाय कई बातों में शैव मत का समर्थक था परन्तु महाराष्ट्र में इस पंथ के अनुयायियों ने 'शिव विष्णु' के ऐक्य पर ही अधिक बल दिया। परिणामस्वरूप यहाँ उत्तर भारत की तरह शैव और वैष्णव का संघर्ष न के बराबर ही रहा। नाथ पंथियों ने शक्ति युक्त शिव स्वरूप को प्रमाण माना है। आत्मशुद्धि पर बल देने वाली योगसाधना, आत्मानुभूति पर विश्वास, दलितोद्धार की तीव्र इच्छा आदि बातों के कारण यह सम्प्रदाय यहाँ विशेष लोकप्रिय रहा परन्तु आगे चलकर इस पंथ के अनुयायियों ने लोकप्रियता के इन मुख्य कारणों की ओर ध्यान नहीं दिया। नाथ पंथियों ने बाह्याचार को इतना अधिक महत्व देना शुरू किया कि परिणामस्वरूप शुद्ध योगसाधना, आत्मानुभूति आदि मुख्य बातों की ओर उनका विशेष ध्यान न रह सका। इनमें साम्प्रदायिक विकृति बढ़ आने से अनेक दुराचार भी इनके द्वारा किये जाने लगे। इसका फल यह हुआ कि नाथपंथियों के प्रति यहाँ की जनता में श्रद्धा न रही। इसी समय महाराष्ट्र में 'वारकरी सम्प्रदाय' अधिक लोकप्रिय बन रहा था।

---

१ गोरखबानी—संपादक डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल (सन १९४२) भूमिका पृ० २०

२ श्री गुरु गोरक्षनाथ—रा०चिं० ढेरे (सन १९५९ ई०), पृ० १३८

३ नाथ सम्प्रदाय—डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी (सन १९५० ई०) पृ० ३

४ हिन्दी को मराठी संतों की देन—डा० विनयमोहन शर्मा (प्रथम संस्करण), पृ० ६०

डा० विनय मोहन शर्मा के मत से महाराष्ट्र में नाथ पंथ के लोप हो जाने का कारण है इसका मूलतः वाम मार्गी होना और 'बिंदु रक्षा' पर अत्यधिक आग्रह करना।[1] बामनी वंश के शासनकाल में इस सम्प्रदाय का स्वतंत्र स्थान तो न रहा परंतु न्यूनाधिक मात्रा में इसका प्रभाव यहां के धार्मिक जीवन पर अवश्य रहा था। महाराष्ट्र के महानुभाव, वारकरी, दत्त आदि सम्प्रदायों पर नाथपंथ का प्रभाव न्यूनाधिक मात्रा में स्पष्ट रूप से दिखायी देता है।

महानुभाव सम्प्रदाय

चक्रधर स्वामी द्वारा प्रवर्तित महानुभाव पंथ प्रारम्भ में महाराष्ट्र की जनता में एक आकर्षण की वस्तु रहा। यह सम्प्रदाय केवल महाराष्ट्र ही में सीमित न रहकर उसके बाहर भी लोकप्रिय बना था। इसे महानुभाव के अतिरिक्त मानभाव, महात्मा, अच्युत, जयकृष्णी, भटमार्ग, परमार्ग आदि नामों से भी अभिहित किया जाता था।[2] महानुभावों ने कृष्णभक्ति को स्वीकार किया था। श्रीकृष्ण, द्वारावती के चांगदेव राऊल, ऋद्धिपुर के गुंडम राऊल अर्थात् गोविंदप्रभु तथा चक्रधर—ये पांच कृष्णावतार माने जाते हैं। इनकी शिष्य परम्परा बहुत ही बड़ी थी। जीवेश्वर भेद, भक्तियोग, संज्ञान और अहिंसा ये चार सूत्र महानुभाव सम्प्रदाय की आधारशिला के रूप में माने जाते हैं परन्तु यह सम्प्रदाय महाराष्ट्र की जनता को अधिक समय तक प्रभावित न कर सका।

वास्तव में महानुभाव सम्प्रदाय को निष्ठावान तथा त्यागसंपन्न अनुयायी प्रारम्भ से ही प्राप्त हुए थे और उन्होंने योग्य दिशा में प्रयत्न भी किये थे किन्तु एकान्तिक निवृत्तिवाद तथा कठिन आचार धर्म के कारण सामान्य जनता में उसके प्रति श्रद्धा न रही। वैदिक धर्मावलंबियों की कर्मठता तथा भोगलोलुपता का तीव्र प्रतिकार करते करते स्वयम् यह सम्प्रदाय संन्यासवाद और जीवन पराङ्मुखता की चरम सीमा पर पहुँच गया। अवैदिकता, वर्णाश्रमविरोध, मूर्तिपूजा को अमान्यता, महतगिरी का आडम्बर, स्त्रियों को संन्यास दीक्षा, काले नीले रंग के वस्त्रों की विचित्र वेषभूषा,[3] सामान्य जनता के लिए दुर्बोध सकल तथा सुंदर जैसी गुप्त लिपियों के प्रयोग आदि अनेक समाज विमुख बातों से महाराष्ट्र में यह सम्प्रदाय बहुत काल तक मान्य न रहा। एकनाथ तथा तुकाराम के अभंगों में इस पंथ की भर्त्सना दिखायी देती है। सन् १७८२ के लगभग श्री सवाई माधवराव पेशवा ने 'विप्रव्यवहार निर्णय' द्वारा इस पंथ को बहिष्कृत कर दिया था।[4]

---

१ हिन्दी को मराठी संतों की देन—डा० विनयमोहन शर्मा (प्रथम संस्करण) पृ० ६४
२ वही, पृ० ६५
३ प्राचीन मराठी वाङ्मयाचे स्वरूप—प्रा० नेमोलीकर (द्वितीय संस्करण), पृ० ८६
४ हिन्दी को मराठी संतों की देन—डा० विनयमोहन शर्मा (प्र०सं०), पृ० ६८

वारकरी सम्प्रदाय

वारकरी सम्प्रदाय अर्थात भागवत धर्म का संदेश महाराष्ट्र के कोने-कोने में पहुँचाने का महत्वपूर्ण कार्य संत नामदेव ने किया। इसीलिए उन्हें वारकरी-सम्प्रदाय के आद्य प्रचारक का सम्मान दिया जाता है। महाराष्ट्र सरस्वती के मन्दिर में ज्ञानदेव ने जो ज्ञानदीप प्रज्वलित किया था उससे असंख्य ज्योतियाँ ज्योतित करने तथा समाज जीवन के अंधकार का नाश कर उसे उज्ज्वलित करने की महत्वाकांक्षा संत नामदेव के मन में थी। ज्ञानेश्वर ने सामान्य जनता में नयी ध्येयदृष्टि निर्माण की परन्तु उनके जीवन में उस ध्येय को साकार बनाने के लिए अपनी सुप्त शक्ति का प्रत्यय होना अत्यावश्यक था। नामदेव ने अपनी अस्सी वर्षों की दीर्घ आयु में बड़ी हा निष्ठा तथा तन्मयता से वारकरी-सम्प्रदाय का प्रचार किया और उसके द्वारा जन साधारण की सुप्त आकांक्षाओं को जागृत किया। भक्ति रस में रंगे हुए इस सम्प्रदाय का दृष्टिकोण अत्यंत उदार एवं मानवतावादी था।

पंढरपुर में ज्ञानेश्वर कालपूर्व के जो चार शिलालेख उपलब्ध हुए हैं उनसे यह ज्ञात होता है कि वारकरी सम्प्रदाय महाराष्ट्र में प्राचीन काल से प्रचलित था।[1] फिर भी वास्तविक दृष्टि से इस पंथ के सामाजिक कार्य का आरम्भ तेरहवीं शताब्दी के अंत में ही हुआ। संत नामदेव ने इस पंथ को सुस्थिर एवं जनव्यापी बना दिया। मराठी में वारी शब्द का अर्थ है यात्रा। अतः वारकरी शब्द का सामान्य अर्थ रहा यात्रा करने वाला व्यक्ति। धार्मिक दृष्टि से उसे वारकरी कहते हैं जो पंढरपुर स्थित विट्ठल की मूर्ति का उपासक है और आषाढ़ तथा कार्तिक शुक्ल एकादशी को नियमित रूप से पंढरपुर की यात्रा कर विट्ठल मूर्ति के दर्शन करता है। यह धर्म यात्रा आषाढ़-कार्तिक की शुक्ल पक्षीय एकादशी के अतिरिक्त अन्य महीनों की एकादशी को भी की जा सकती है। पंढरपुर की यह धर्म-यात्रा वारी कहलाती है। अतः इस सम्प्रदाय को कुछ लोग वारकरी कहने लगे। इस सम्प्रदाय के भक्तगण पांडुरंग को प्रिय तुलसी की माला भी धारण करते हैं इसी से कुछ लोगों ने इसे 'मालकरी' भी कहना प्रारम्भ किया।[2] इसी को विट्ठल सम्प्रदाय तथा भागवत सम्प्रदाय भी कहते हैं।

यह सम्प्रदाय मूलतः कर्नाटकीय होगा और वहाँ से महाराष्ट्र में उसका प्रचलन हुआ होगा। इस मत की पुष्टि नामदेव तथा एकनाथ की निम्नलिखित अभंग रचना से हो जाती है।

(१) 'कानडा विट्ठल पंढरीये'—नामदेव

(२) *तोच कानडें देव कानडें। 'खेत्र कानडें पंढरीयें'*—एकनाथ

विट्ठल को विष्णु के कृष्णावतार का तादात्म्य माना जाता है। महाराष्ट्र के संतों ने कृष्ण के प्रायः बाल और मर्यादित रूप को अपनाया है। उन्होंने उत्तर के

---

१ पांच संत कवि—डॉ० श० गो० तुलपुळे पृ० ७

२ हिंदी को मराठी संतों की देन—डा० विनयमोहन शर्मा, पृ० ६१

भागवत सम्प्रदायी भक्तों की नाई कृष्ण के, राधा और गोपी के शृंगार मूलक भक्ति रस का विशेष पान नहीं किया। इसीलिए पंढरपुर में विठ्ठल (कृष्ण) की मूर्ति के निकट राधा रानी न होकर, धर्मपत्नि रुक्मिणी देवी प्रतिष्ठित हैं और वह भी स्वतंत्र दूसरे मन्दिर में। इस पंथ की एक विशेषता यह है कि वारकरी संत कृष्ण अर्थात् विठ्ठल के प्रति भक्ति रखते हुए भी अद्वैतवादी हैं। वे भव-बंधन से छूटकर मोक्ष चाहते हैं—भगवान में एकाकार होना चाहते हैं।[1]

नवधा भक्ति में से महाराष्ट्रीय वारकरियों ने 'श्रवण और कीर्तन' का पुरस्कार किया। गोरा कुंभार, सावता माली, चोखा मेला, नरहरि सुनार, बंका महार, जनाबाई, आदि विभिन्न वर्गों तथा जातियों के भक्तगणों ने इस सम्प्रदाय को बहुत ही लोकप्रिय बनाया। आज भी यह सम्प्रदाय महाराष्ट्र में सबसे अधिक प्रिय है।

दत्त सम्प्रदाय

वारकरी सम्प्रदाय के आद्य प्रचारक नामदेव के पश्चात् महाराष्ट्र की धार्मिक स्थिति तो अधिक ही चिंताजनक हो चुकी थी। इस समय ब्राह्मण धर्म आचार की दृष्टि से शिथिल हो रहा था। वर्णाश्रमोचित कर्तव्यों का उन्हें विस्मरण सा हो गया था और धर्म विहित आचार भूलकर जीविका चलाने के लिए विविध व्यवसायों का अवलंब उन्होंने किया था। जिनके कारण अपने संपूर्ण धर्म पर आपत्ति आ चुकी थी उन्हीं यवनों की सेवा में ब्राह्मणों ने अपनी बुद्धि तथा शरीर को लगा दिया था।[2] ब्राह्मणों की देखादेखी में अन्य वर्गों तथा जातियों में भी इसी प्रवृत्ति का न्यूनाधिक मात्रा में प्रसार हो चुका था। इसी परिस्थिति की प्रतिक्रिया के रूप में महाराष्ट्र में दत्त-सम्प्रदाय का प्रवर्तन हुआ। बहमनी राज्यकाल के उत्तरार्ध में श्रीपाद श्रीवल्लभ और श्री नरसिंह सरस्वती इन दो महापुरुषों ने 'दत्त सम्प्रदाय' की स्थापना कर वैदिक धर्म की सनातन परंपरा का पुनरुज्जीवन किया। इन महान विभूतियों के कर्तृत्व का समय सामान्यतः सन १३७८ से १४५८ ई० तक माना जाता है।

दत्त त्रिमूर्ति देवता हैं जिनमें ब्रह्मा विष्णु और महेश का समावेश है। साथ ही इनमें सत्व, रज और तम इन तीन गुणों के ऐक्य की दशा भी होती है। सूर्य, शक्ति, गणपति, विष्णु और शंकर की पंचायतन पूजा की परिपाटी शंकराचार्य ने जनता की मत विभिन्नता का अंत करने के लिए प्रारम्भ की थी। इसी भावना से त्रिमूर्ति देवता की सृष्टि की गयी प्रतीत होती है। इस पंथ का अद्वैत दर्शन है। ब्रह्म को निरामय, नित्यानंद तथा ज्ञान की ऊंचाई से चैतन्य कहा गया है। ब्रह्म की इच्छा शक्ति ही प्रकृति है और जीव ही मूल रूप से ब्रह्म है। भिन्न भिन्न देह धारण करने से भिन्न भिन्न दिखायी देता है। यह संसार महेश के संबंध से उत्पन्न हुआ है इन्हीं

---

१ हिंदी को मराठी संतों की देन—डा० विनयमोहन शर्मा, पृ० ७६

२ दत्त सम्प्रदायाचा इतिहास—रा० चिं० ढेरे (सन १९५८ ई०), पृ० १७२

के संबंध में रहता है और उन्हीं के संबंध में उनका 'लय' हो जाता है।[1] गुरुचरित्र इस संप्रदाय का प्रमाण ग्रंथ माना जाता है जिसमें आचार धर्म का विस्तृत व्याख्या की गयी है। सरस्वती गंगाधर, दासोपंत, एकनाथ, मुक्तेश्वर इसी संप्रदाय के थे। नरसिंह सरस्वती ने 'धर्मो रक्षति रक्षितः' तथा 'आचारः परमो धर्मः' जैसे सिद्धांतों का महत्व समझाकर जनता में धर्म के प्रति आस्था निर्माण की।

'दत्तात्रेय' समन्वय का प्रतीक होने से इस संप्रदाय में जिस प्रकार शैव और वैष्णव परंपराओं का समन्वय हो चुका था उसी प्रकार हिंदू मुसलमानों के समन्वय का भी प्रयत्न हुआ। इस प्रयत्न का सूत्रारंभ श्री नरसिंह सरस्वती के चरित्र में मिलता है। उनके पश्चात जनार्दन स्वामी और एकनाथ के समय दत्तोपासना की पार्श्व भूमि पर हिंदू मुस्लिम समन्वय का प्रयत्न हुआ। जनार्दन स्वामी के गुरु चांद बोधले सूफी थे कादरी उपपंथ के थे और चांद बोधले का एक मुसलमान शिष्य शेख महम्मद मराठी भाषा में योग और भक्ति के विवरण ग्रंथ लिखता था। जनार्दन स्वामी की दत्त भक्ति का प्रभाव मुसलमानों पर, मुस्लिम शासकों पर भी रहा। उस समय सरकारी छुट्टी शुक्रवार के स्थान पर गुरुवार को दी जाने लगी। माणिक प्रभु के सकल मत संप्रदाय में मुसलमानों की संख्या अधिक थी परंतु समन्वय का यह प्रयत्न अनेक कारणों से असफल रहा। मुसलमान इस संप्रदाय की ओर आकर्षित होते थे उसका वास्तविक कारण तत्व ज्ञान अथवा संप्रदाय के प्रति प्रेम न होकर दत्तोपासक सिद्ध पुरुषों के चमत्कार था।[2]

नरसिंह सरस्वती के समय की महाराष्ट्र की धार्मिक स्थिति देखते हुए यह मानना पड़ता है कि उनका वैदिक धर्म के पुनरुज्जीवन का कार्य अत्यंत प्रशंसनीय था। यद्यपि दत्त-संप्रदाय ने समन्वयात्मक भूमिका ली थी फिर भी उनके प्रमाणग्रंथ गुरुचरित्र को पढ़ने से स्पष्ट हो जाता है कि वारकरी संप्रदाय की भांति इनका दृष्टिकोण विशाल न था। उसने ब्राह्मण वर्ग के उन्नयन की ओर ही अधिक ध्यान दिया था। फलस्वरूप जन साधारण के मन में वारकरी संप्रदाय की तरह इसके प्रति आत्मीयता निर्माण न हो सकी।[3]

दत्त संप्रदाय की परंपरा में महाराष्ट्र के सुप्रसिद्ध संत एकनाथ का नाम भी गिनाया जाता है। यद्यपि वे गुरु परंपरा से दत्तपंथीय थे फिर भी उन्होंने समकालीन वारकरी संप्रदाय को ही इन्होंने अधिक महत्व दिया था। एकनाथ के व्यक्तित्व में दत्त संप्रदाय, वारकरी पंथ तथा पैठण की वैदिक परंपरा का उत्तम समन्वय दिखायी देता है।[4] महाराष्ट्र के धार्मिक एवं सांस्कृतिक पुनरुत्थान के सर्वश्रेष्ठ प्रतिनिधि के

---

१ हिंदी को मराठी संतों की देन—डा० विनयमोहन शर्मा पृ० ७६-७८
२ दत्त सम्प्रदायाचा इतिहास—रा० चिं० ढेर पृ० १७४-१७८
३ संत वाङ्मयाची सामाजिक फलश्रुति—प्रा० गं० बा० सरदार, पृ० ११८
४ प्राचीन मराठी वाङ्मयाचे स्वरूप—प्रा० द० भी० गोपालकर पृ० १२०

रूप में एकनाथ की ओर देखा जाता है। स्निग्धता, सौजन्यता, समता, दयालुता, औदार्य आदि गुण विशेष के साधक एकनाथ महाराज को दत्तसम्प्रदाय की विषमता तथा वर्णाभिमान पसंद न था। अतः दत्त सम्प्रदाय में पूर्णतः समरस न होकर उन्होंने समन्वयशील वारकरी पंथ का पुनर्गठन करने का कार्य प्रारंभ किया। संत नामदेव के पश्चात् वारकरी सम्प्रदाय के कार्य की गति कुछ शिथिल हुई थी, उसमें एकनाथ तुकाराम जैसे उदारमतवादी महान व्यक्तियों का सहयोग प्राप्त होने से अधिक बल, चैतन्य, तथा स्थैर्य उत्पन्न हुआ। वारकरी सम्प्रदाय के कारण महाराष्ट्र में दत्त सम्प्रदाय का प्रभाव यद्यपि अधिक न रहा तथापि न्यूनाधिक मात्रा में उसका प्रचलन रहा ही था। आज भी महाराष्ट्र में दत्तोपासक पाए जाते हैं।

समर्थ सम्प्रदाय

ईसा की सत्रहवीं शताब्दी के मध्य में समर्थ रामदास ने 'समर्थ सम्प्रदाय' की स्थापना की। यह मुस्लिम साम्प्रदायिकता के अतिरेक का काल था। अपने 'परचक्र निरूपण' में समर्थ रामदास ने जनता की वास्तविक स्थिति का बड़ा ही यथार्थ चित्र अंकित किया है। जनता अखंड चिंता के प्रवाह में पड़ी हुई थी किसी को कोई मार्ग नहीं सूझता था।[1] संत एकनाथ तथा तुकाराम ने महाराष्ट्र की जनता को उसकी दयनीय स्थिति का भान कराया था, और नयी आशा आकांक्षा का निर्माण कर जन मानस में नवचैतन्य उत्पन्न करने का प्रयत्न किया था। इसी पार्श्वभूमि पर एकनाथ के द्वारा प्रतिपादित प्रपंच परमार्थ योग ही रामदास के कर्मयोग में[2] परिणत हो गया।

समर्थ सम्प्रदाय के उपास्य देवता श्रीराम माने जाते हैं। वारकरी तथा समर्थ सम्प्रदाय के तत्वज्ञान में विशेष अंतर नहीं दिखायी देता। दोनों सम्प्रदायों के मूल आधार भगवद्गीता, भागवत तथा योग वशिष्ठ—ये तीन ग्रंथ हैं, परन्तु दोनों के आचारों में थोड़ा कुछ भेद है। रामदास के 'दासबोध' ग्रंथ का नित्य पाठ इस सम्प्रदाय के लोग करते हैं।[3] चाफल तथा सज्जनगढ़ इनके प्रमुख तीर्थ क्षेत्र माने जाते हैं। इस सम्प्रदाय के प्रमाण ग्रंथ 'दासबोध' में पूर्ववर्ती अन्य संतों की भांति अद्वैत का ही प्रतिपादन है। संसार में आत्मज्ञान ही सब विद्या का सार है। जीवात्मा परब्रह्म से अभिन्न है जो निर्गुण निराकार है। इस रहस्य को जानने का नाम ही आत्मज्ञान अथवा अध्यात्म विद्या है। 'ब्रह्म एकचि असे। परि तें बहुविध भासे' अर्थात् एक ही ब्रह्म भिन्न भिन्न रूपों में भासमान होता है।

संपूर्ण विश्व में परब्रह्म व्याप्त रहता है। परब्रह्म के सिवा भासमान होने वाला नाम रूप ही माया है। जीवात्मा के वस्तुतः परमात्मा का स्वरूप होने पर भी माया

---

१ हिंदी को मराठी संतों की देन—डा० विनयमोहन शर्मा पृ० ७८
२ पाँच सन्त कवि—डा० न० गो० सुरपुरे पृ० २६४
३ श्री समर्थ चरित्र—प्रा० न० र० फाटक (सन १९५१ ई०), पृ० २१०

के संबंध में रहता है और उन्हीं के संबंध में उसका 'लय' हो जाता है।[1] 'गुरुचरित्र' इस सम्प्रदाय का प्रमाण ग्रंथ माना जाता है जिसमें आचार धर्म की विस्तृत व्याख्या की गयी है। सरस्वती गंगाधर, दासोपंत, एकनाथ, मुक्तेश्वर इसी सम्प्रदाय के थे। नरसिंह सरस्वती ने 'धर्मो रक्षति रक्षितः' तथा 'आचारः परमो धर्मः' जैसे सिद्धान्तों का महत्व समझाकर जनता में धर्म के प्रति आस्था निर्माण की।

दत्तात्रेय समन्वय का प्रतीक होने से इस सम्प्रदाय में जिस प्रकार शैव और वैष्णव परंपराओं का समन्वय हो चुका था उसी प्रकार हिंदू मुसलमानों के समन्वय का भी प्रयत्न हुआ। इस प्रयत्न का मूलारंभ श्री नरसिंह सरस्वती के चरित्र में मिलता है। उनके पश्चात् जनार्दन स्वामी और एकनाथ के समय दत्तोपासना की पार्श्व भूमि पर हिंदू मुस्लिम समन्वय का प्रयत्न हुआ। जनार्दन स्वामी के गुरु चांद बोधले सूफी थे कादरी उपपंथ के थे और चांद बोधले का एक मुसलमान शिष्य शेख महम्मद मराठी भाषा में योग और भक्ति के विवरण ग्रंथ लिखता था। जनार्दन स्वामी की दत्त भक्ति का प्रभाव मुसलमानों पर मुस्लिम शासकों पर भी रहा। उस समय सरकारी छुट्टी शुक्रवार के स्थान पर गुरुवार को दी जाने लगी। माणिक प्रभु के सकल मत सम्प्रदाय में मुसलमानों की संख्या अधिक थी परन्तु समन्वय का यह प्रयत्न अनेक कारणों से असफल रहा। मुसलमान इस सम्प्रदाय की ओर आकर्षित हुए थे उसका वास्तविक कारण तत्व ज्ञान अथवा सम्प्रदाय के प्रति प्रेम न होकर दत्तोपासक सिद्ध पुरुषों के चमत्कार था।[2]

नरसिंह सरस्वती के समय की महाराष्ट्र की धार्मिक स्थिति देखते हुए यह मानना पड़ता है कि उनका वैदिक धर्म के पुनरुज्जीवन का कार्य अत्यंत प्रशंसनीय था। यद्यपि दत्त सम्प्रदाय ने समन्वयात्मक भूमिका ली थी फिर भी उनके प्रमाणग्रंथ गुरुचरित्र को पढ़ने से स्पष्ट हो जाता है कि वारकरी सम्प्रदाय की भांति इनका दृष्टिकोण विशाल न था। उसने ब्राह्मण वर्ग के उन्नयन की ओर ही अधिक ध्यान दिया था। फलस्वरूप जन साधारण के मन में वारकरी सम्प्रदाय की तरह इसके प्रति आत्मीयता निर्माण न हो सकी।[3]

दत्त सम्प्रदाय की परंपरा में महाराष्ट्र के सुप्रसिद्ध संत एकनाथ का नाम भी गिनाया जाता है। यद्यपि वे गुरु परंपरा से दत्तपंथीय थे फिर भी समन्वयवादी वारकरी सम्प्रदाय को ही उन्होंने अधिक महत्व दिया था। एकनाथ के व्यक्तित्व में दत्त सम्प्रदाय, वारकरी पंथ तथा पैठण की वैदिक परंपरा का उत्तम समन्वय दिखायी देता है।[4] महाराष्ट्र के धार्मिक एवं सांस्कृतिक पुनरुत्थान के सर्वश्रेष्ठ प्रतिनिधि के

१ हिंदी को मराठी संतों की देन—डा० विनयमोहन शर्मा पृ० ७६ ७८
२ दत्त सम्प्रदायाचा इतिहास—रा० चिं० ढेरे पृ० १७४ १७५
३ संत वाङ्मयाची सामाजिक फलश्रुति—प्रा० गं० बा० सरदार पृ० ११८
४ प्राचीन मराठी वाङ्मयाचे स्वरूप—प्रा० ह० श्री० शेणोलीकर, पृ० १२०

रूप में एकनाथ की ओर देखा जाता है। स्निग्धता, सौजन्यता, समता, दयालुता, औदार्य आदि गुण विशेष के साधक एकनाथ महाराज को दत्तसम्प्रदाय की विषमता तथा वर्णाभिमान पसंद न था। अतः दत्त सम्प्रदाय में पूर्णतः समरस न होकर उन्होंने समन्वयशील वारकरी पंथ का पुनर्गठन करने का कार्य प्रारंभ किया। संत नामदेव के पश्चात् वारकरी सम्प्रदाय के कार्य की गति कुछ शिथिल हुई थी, उसमें एकनाथ तुकाराम जैसे उदारमतवादी महान व्यक्तियों का सहयोग प्राप्त होने से अधिक बल, चैतन्य तथा स्थैर्य उत्पन्न हुआ। वारकरी सम्प्रदाय के कारण महाराष्ट्र में दत्त सम्प्रदाय का प्रभाव यद्यपि अधिक न रहा तथापि न्यूनाधिक मात्रा में उसका प्रचलन रहा ही था। आज भी महाराष्ट्र में दत्तोपासक पाए जाते हैं।

समर्थ सम्प्रदाय

ईसा की सत्रहवीं शताब्दी के मध्य में समर्थ रामदास ने 'समर्थ सम्प्रदाय' की स्थापना की। यह मुस्लिम साम्प्रदायिकता के अतिरेक का काल था। अपने 'परचक्र निरूपण' में समर्थ रामदास ने जनता की कारुणिक स्थिति का बड़ा ही यथार्थ चित्र अंकित किया है। जनता अखंड चिंता के प्रवाह में पड़ी हुई थी किसी को कोई मार्ग नहीं सूझता था।[1] संत एकनाथ तथा तुकाराम ने महाराष्ट्र की जनता को उसकी दयनीय स्थिति का भान कराया था, और नयी आशा-आकांक्षाओं का निर्माण कर जन मानस में नवचैतन्य उत्पन्न करने का प्रयत्न किया था। इसी पार्श्वभूमि पर एकनाथ के द्वारा प्रतिपादित प्रपंच परमार्थ योग ही रामदास के कर्मयोग में[2] परिणत हो गया।

समर्थ सम्प्रदाय के उपास्य देवता श्रीराम माने जाते हैं। वारकरी तथा समर्थ सम्प्रदाय के तत्वज्ञान में विशेष अन्तर नहीं दिखायी देता। दोनों सम्प्रदायों के मूल आधार भगवद्गीता, भागवत तथा योग वसिष्ठ—ये तीन ग्रंथ हैं परन्तु दोनों के आचारों में मान्य कुछ भेद है। रामदास के 'दासबोध' ग्रंथ का नित्य पाठ इस सम्प्रदाय के लोग करते हैं।[3] चाफल तथा सज्जनगढ़, इनके प्रमुख तीर्थ क्षेत्र माने जाते हैं। इस सम्प्रदाय के प्रमाण ग्रंथ 'दासबोध' में पूर्ववर्ती अन्य संतों की भाँति अद्वैत का ही प्रतिपादन है। संसार में आत्मज्ञान ही सब विद्या का सार है। जीवात्मा परब्रह्म से अभिन्न है जो निर्गुण निराकार है। इस रहस्य को जानने का नाम ही आत्मज्ञान अथवा अध्यात्म विद्या है। 'ब्रह्म एकचि असे। परि तें बहुविध भासे' अर्थात् एक ही ब्रह्म भिन्न भिन्न रूपों में भासमान होता है।

संपूर्ण विश्व में परब्रह्म व्याप्त रहता है। परब्रह्म के सिवा भासमान होने वाला नाम रूप ही माया है। जीवात्मा के वस्तुतः परमात्मा का स्वरूप होने पर भी माया

---

१ हिंदी को मराठी संतों की देन—डॉ० विनयमोहन शर्मा, पृ० ७८
२ पाँच संत कवि—डॉ० श० गो० तुळपुळे प० २६४
३ श्री समर्थ चरित्र—प्रा० न० र० फाटक (सन १९५१ ई०), पृ० २१०

तथा अविद्या के कारण उसे आत्मस्वरूप का ज्ञान नहीं होता। इसलिए श्रवण, मनन, निदिध्यासन आदि द्वारा उपासना कर उसको प्राप्त करना प्रत्येक मनुष्य का कर्तव्य है। इस तरह जीव ब्रह्म, माया, श्रवण, मनन, निदिध्यासन, नवधाभक्ति आदि का पूर्व परंपरागत अद्वैत तत्वज्ञान ही उन्होंने दासबोध के द्वारा बताया।[1] यद्यपि तत्वों की दृष्टि से उनमें अंतर नहीं दिखायी देता फिर भी सुबोध एवं सरल मराठी भाषा, सुगमता की दृष्टि, विस्तार पूर्वक तथा सोदाहरण विवेचन पद्धति आदि के कारण अगम्य, अतर्क्य तथा गूढ़ समझे जाने वाले तत्वज्ञान का प्रत्यय तथा आनंद सामान्य जनता भी समर्थ रामदास के दासबोध द्वारा ले सकी।

समर्थ रामदास एक अद्वितीय महापुरुष थे। आठ वर्ष की अवस्था में ही उन्होंने गृहत्याग किया था और बारह वर्ष अध्ययन तथा तपश्चरण किया। उसके पश्चात एक तप के रूप में संपूर्ण भारत वर्ष की यात्रा की। उस यात्रा में देश-काल स्थिति का उन्होंने सतर्कता से निरीक्षण किया था। और अपने जीवन ध्येय को निश्चित कर कृष्णा नदी के किनारे [illegible] नामक स्थान पर अपने संप्रदाय की स्थापना सन १६४४ में की। धनुर्धारी रामचंद्र तथा हनुमान की उपासना के माध्यम से महाराष्ट्र को बलोपासना की दीक्षा दी। विभिन्न स्थानों पर मठों की स्थापना की। अपने असंख्य शिष्यों को संगठन व कार्य की उचित दिशाएँ समझा दीं। परमार्थ को प्राप्त करने के लिए सामाजिक कर्तव्यों को भूलने की आवश्यकता नहीं है, निष्क्रिय दैववाद तथा उदासीनता के विरुद्ध प्रवृत्ति परक प्रयत्नवाद जनता में निर्माण करने का कार्य प्रारंभ किया। "होईन ब्रह्मांडाहून जाड अथवा उत्कट, भव्य तेंचि घ्यावें" ऐसी प्रबल महत्वाकांक्षाएँ जगानेवाली उक्तियों के संस्कार जनता पर सदैव किये गये। अन्याय, अत्याचार तथा अविचार के प्रति लोगों के मन में घृणा का भाव पैदा किया। 'उद्धटासी व्हावें उद्धट' अर्थात शठं प्रति शाठ्यम जैसे मंत्रघोष से जन मानस में प्रतिकार की शक्ति उत्पन्न कर सद्धर्म, सदाचार, सद्विचार स्वराज्य आदि के प्रति ममत्व की भावना जगायी। इसी कार्य के लिए समर्थ रामदास 'महाराष्ट्र धर्म शब्द' का प्रयोग करते थे।

समर्थ-संप्रदाय महाराष्ट्र में वारकरी संप्रदाय की भाँति बहुत ही लोकप्रिय रहा। महाराष्ट्र में रामदासी-मठों की संख्या पर्याप्त है। जयराम स्वामी, रंगनाथस्वामी केशव स्वामी तथा आनंदमूर्ति इन चार महानुभावों ने इस संप्रदाय को सुस्थिर एवं प्रभावी करने में समर्थ रामदास का सहयोग किया था। इसीलिए रामदास सहित इन चारों शिष्यों को मिलाकर 'रामपंचायतन' की संज्ञा दी गयी थी। महाराष्ट्र के जीवन में एक दृष्टि से इस संप्रदाय का बहुत ही महत्व माना जाता है। रामदास के नेतृत्व में संगठित इसी संप्रदाय के माध्यम से उस समय की जनता में राजनीति, [illegible] प्रयत्नवाद तथा [illegible] आदि बातें निर्माण की गयीं और 'निज-समर्थ'

---

1 महाराष्ट्राचा सांस्कृतिक इतिहास—डा० दा० [illegible] (सन् १९३१ ई०) पृ० १८२-१८३

के योग से मुस्लिम शासन काल के अंधकारमय वातावरण को हटाकर स्वातन्त्र्य-सूर्य के दर्शन महाराष्ट्र कर सका।

रामदास स्वामी के पश्चात इस सम्प्रदाय का प्रभाव विशेष न रहा। उसके कई कारण बताये जाते हैं। समर्थ रामदास की भाँति नेतृत्व करने वाला नेता भविष्यत् में इसे नहीं मिला।[1] अन्य सम्प्रदायों की तरह इसमें भी मूल सिद्धान्तों की अपेक्षा आचारों का महत्त्व बढ़ने लगा। उत्सव प्रियता बढ़ने लगी। शिष्यों में आपस में कई बार एकमत न होता था। स्वातन्त्र्य प्राप्ति होने से १८वीं शताब्दी में वातावरण में भी परिवर्तन हुआ था। सम्भवतः इन्हीं कारणों से समर्थ सम्प्रदाय भविष्य में प्रभावी न रहा होगा।

विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि महाराष्ट्र में समय की आवश्यकतानुसार अनेक सम्प्रदायों का निर्माण हुआ। प्रत्येक सम्प्रदाय के संस्थापक ने अपने असाधारण, अलौकिक व्यक्तित्व से तत्कालीन जनता को प्रभावित किया जिससे महाराष्ट्र की जनता पर अखंडित रूप से धर्म के संस्कार पनपते रहे। यद्यपि इनमें से अधिकांश सम्प्रदायों का प्रखर प्रभाव आगे चलकर नहीं भी रहा फिर भी यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि उनसे संस्कार तथा परंपराएँ नष्ट न हुई थी। दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह भी रही कि महाराष्ट्र के अधिकांश सम्प्रदायों के संतों ने वैदिक धर्म के आचार विचार की स्वत्व-रक्षा का आग्रह किया है। वर्ण व्यवस्था के भीतर रहकर आत्मज्ञान की प्राप्ति पर उन्होंने विशेष बल दिया। उनका 'अद्वैत' भक्तिरस से सिक्त है।

---

१ श्री समर्थ चरित्र—प्रा० न० र० फाटक पृ० २१६

१४ | रीतिकालीन मराठी साहित्य

शिवाजी से पूर्व अर्थात बहमनी शासनकाल में यादवकालीन मराठी भाषा का शुद्ध स्वरूप मिट सा रहा था। एक ओर शासनकर्ताओं की फारसी भाषा की जबर्दस्ती हो रही थी तो दूसरी ओर प्राचीन परंपरा के अभिमानियों ने गीर्वाण भारती संस्कृत का दुराग्रह करना प्रारम्भ किया था। इस्लाम का आक्रमण एक अभूतपूर्व घटना थी। उससे न केवल महाराष्ट्र का राजकीय स्वातंत्र्य ही नष्ट हुआ अपितु धर्म संस्कृति तथा मराठी भाषा पर भी विपत्ति आई। परतंत्रता में स्थानीय भाषा की कितनी दयनीय स्थिति हो सकती है यह देखने के लिए संसार के इतिहास में अनेकों उदाहरण मिल सकते हैं। यह सत्य है कि विजित लोगों की भाषा विजेताओं की भाषा के अत्यधिक प्रभाव के कारण नष्ट प्राय हो जाती है। सन १३१८ से १५८६ ई० तक मराठी भाषा भी इसका अनुभव ले रही थी। फारसी शब्दों तथा प्रयोगों का प्रभाव जब तक मराठी भाषा पर हो रहा था तब तक उसके अन्त स्वरूप को उतना भय न था परन्तु जब सम्बन्धसूचक, समुच्चयबोधक अव्यय, विभक्ति प्रत्ययों आदि तथा फारसी के उच्चारणों का मराठी भाषा में समावेश होने लगा तब चिंता उत्पन्न होने लगी।

तीन सौ वर्षों के संसर्ग के कारण शिवाजीकाल के पूर्वार्ध में मराठी भाषा लगभग फारसी मय बनी हुई दिखायी देती है। उसकी मूल प्रकृति के चिह्न तक दिखायी न देते थे।[1] अतः मराठी भाषा के अस्तित्व के बारे में भी आशंका होने लगी परन्तु सत्रहवीं शताब्दी में महाराष्ट्र में जो राज्यक्रांति हुई उससे यह संकट बढ़ न सका। इतिहासाचार्य राजवाडे का कथन है कि यदि यह राज्यक्रांति न हो पाती तो मराठी उर्दू या फारसी बन जाती। महाराष्ट्र की तरह उत्तर भारत में मुस्लिम शासनकाल के प्रारम्भ से लेकर सत्रहवीं शताब्दी तक कभी भी क्रांति न होने के कारण ही हिन्दी भाषा का रूपान्तर उर्दू में हुआ। हिन्दी पर उर्दू या फारसी का प्रभाव पड़ने ही लगा था कि इतने में मराठों की राज्यक्रांति ने मुसलमानी सत्ता, संस्कृति और भाषा इन सभी को

---

१ मराठी भाषा उद्गम व विकास—कृ० पा० कुलकर्णी (सन् १९५७ ई०), पृ० २२६

धक्का दे दिया, जिससे भारत की सभी भाषाएँ बंधनमुक्त हुई। यदि आज तक उत्तर भारत में मुसलमानों का राज्य रहा होता तो सिंधी, पंजाबी, हिंदी, मारवाड़ी, बंगला, गुजराती, मैथिली, उड़िया आदि भाषाओं की अत्यंत दयनीय अवस्था हो गई होती।[1] अतः इस दृष्टि से मराठों की राज्यक्रांति महत्त्वपूर्ण ही रही।

मराठी भाषा का विकास

छत्रपति शिवाजी महाराज के नेतृत्व में जो राज्यक्रांति हुई उससे स्वधर्म और स्वदेश के साथ-साथ स्वभाषा को भी संरक्षण मिला। गीर्वाण वाणी संस्कृत के प्रति पूर्ण आदर रखते हुए भी यहाँ के साधु संतों ने मराठी भाषा का पुरस्कार किया। उनकी दृष्टि विशाल एवं उदार थी। समाज को प्रबोधन देने वाला अमूल्य ज्ञान भंडार वे ऐसी भाषा में रखना नहीं चाहते थे जिसे इने गिने लोग ही जानते हों। अतः जन साधारण की सहज, सुलभ मराठी भाषा में उस ज्ञान भंडार को उछाल देने का प्रयत्न उन्होंने किया। संत ज्ञानेश्वर ने बड़े ही आत्मविश्वास के साथ श्रीमद्भगवद्गीता पर आधारित 'ज्ञानेश्वरी' जैसे अभूतपूर्व मराठी ग्रंथ का प्रणयन कर संस्कृत पंडितों का अभिमान नष्ट किया। संस्कृत भाषा का प्रभुत्व नष्ट कर प्राकृत भाषा में ग्रंथ रचना करने की प्रवृत्ति न केवल महाराष्ट्र में ही दिखायी देती है बल्कि संपूर्ण भारत भर में इसका प्रचलन दिखायी देता है।

महाराष्ट्र में मुकुंदराज, ज्ञानेश्वर, नामदेव, एकनाथ आदि संतों ने संस्कृत भाषा के गूढ़ ज्ञान भंडार को जनसाधारण के हितार्थ मराठी में प्रवाहित करने की जिस प्रगतिशील परम्परा का निर्माण किया उसी को आगे चलकर तुकाराम, रामदास, वामन पंडित, मुक्तेश्वर, श्रीधर, मोरोपंत आदि संतों तथा कवियों ने गतिमान किया जिससे मराठी साहित्य को समृद्ध होने में सहायता मिली। इसी प्रकार उत्तर भारत में भी कबीर, सूरदास, तुलसीदास आदि संतों ने संस्कृत के कूपजल को हिंदी के 'बहते नीर' में प्रवाहित किया और यही परम्परा भविष्यत में भी जारी रही। यही परम्परा भारत की विभिन्न भाषाओं में भी दिखायी देती है। शिवाजीकाल में मराठी भाषा तथा साहित्य को राजाश्रय प्राप्त होने से उसके विकास में एक प्रकार की गति सी आ गयी।

मातृभाषा मराठी के प्रति भी इन राजाओं में पूर्ण आदर तथा प्रेम था। स्वयं छत्रपति शिवाजी महाराज ने रघुनाथपंत हणमंते को आज्ञा देकर 'राजव्यवहार कोश' निर्माण कराकर मराठी भाषा को समृद्ध किया। इससे नित्य व्यवहार में अरबी फारसी शब्दों की जो बहुलता थी वह नष्ट हुई और उसके स्थान पर मराठी शब्दों का उपयोग किया जाने लगा। यह बात विशेष द्रष्टव्य है कि इसमें कुछ संस्कृतोद्भव हिंदी शब्दों का भी समावेश था।[2] पेशवा मजमुआदार, वाकियानवीस शुरनवीस दबीर,

---

१ ऐतिहासिक प्रस्तावना, भाग १—वि०का० राजवाडे (सन १९२८ ई०), पृ० ४१३

२ शिवचरित्र प्रदीप—द० वि० आपटे और स० म० दिवेकर (सन १९०५ ई०), पृ० १७६

सर ए नोबत, सदर और मुहतसिब काजी उल कुजात इन फारसी नामों के स्थान पर क्रमश मुख्यप्रधान, अमात्य मत्री सचिव, सुमत सेनापति, दानाध्यक्ष या पन्तिराव तथा न्यायाधीश जैसे संस्कृत या तत्सम मराठी शब्दों का प्रचलन राज्याभिषेक के उपलक्ष्य में शुरू किया गया था।[1]

छत्रपति शिवाजी महाराज के समय मराठी भाषा को अरबी फारसी के प्रभाव से मुक्त कर उसका निजी रूप देने का जो प्रयत्न प्रारम्भ हुआ वह शाहू महाराज के समय तक चला। छत्रपति शाहूमहाराज का प्रारंभिक जीवन मुगलों की कैद में बीता और अन्त में उन्हीं की कृपा से उनकी मुक्ति हुई। अत मुगलों के प्रति उनके मन में द्वेष न था। पेशवाओं ने लगातार उत्तर में अभियान शुरू कर मराठा साम्राज्य बढ़ाना शुरू किया था। उस समय उन्हें सुविधा के लिए कई बार हिंदी उर्दू शब्दों का उपयोग करना पड़ता था। भाषा की शुद्धता पर ध्यान देना उन्हें उतना आवश्यक न लगा। मराठी पंडित कवियों की भाषा अधिक संस्कृतनिष्ठ तथा सामान्य जनता के लिए दुर्बोध सी होने लगी थी। परिणाम यह हुआ कि जनसाधारण को इस दुर्बोध भाषा के प्रति आकर्षण न रहा और बहमनी राज्य में जिस तरह अरबी फारसी शब्दों की बहुलता थी उसी तरह शाहीरों की लावनियों पोवाडों तथा दरबारी भाषा में फिर से वह दिखायी देने लगा।[2] अन्य भाषाओं के शब्दों को समाविष्ट कर मराठी भाषा एक दृष्टि से अधिक सपन्न तथा समृद्ध ही बनी।

मराठी साहित्य की वैभवशाली परंपरा

यादव साम्राज्य के पतन के पश्चात सत एकनाथ के समय तक का काल खंड मराठी साहित्य का तमोयुग माना जाता है।[3] स्वातन्त्र्यापहरण और तन्मूलक राजनीतिक परवशता जैसे आधिभौतिक सकट के साथ ही साथ दूसरी एक आधिदैविक विपत्ति महाराष्ट्र के सामने खड़ी हुई। यह विपत्ति थी चौदहवीं शताब्दी के अत का दुर्गादेवी का भयानक अकाल। दुर्भाग्य से बारह वर्षों तक इस अकाल की अवकृपा महाराष्ट्र की जनता पर रही। इस काल में समाज की स्थिति अत्यन्त दयनीय हो चुकी थी।[4] ऐसी प्रतिकूल परिस्थिति में भी चोखा मेलु जयरामस्वामी नामापाठक, बहिरा, जातवेद, भानुदास, सरस्वती गगाधर इत्यादि कवियों न जो ग्रथ रचनाएं की व मराठी मनोशक्ति को मेलु जयना दिखाने के लिए पर्याप्त हैं।[5] मराठी साहित्य की सुस्थिति तथा स्वय एकनाथ

---

१ शिवाजी—सर यदुनाथ सरकार पृ० १६३

२ मराठी भाषा उदगम व विकास—कृ० पा० कुलकर्णी (सन १९५७ ई०) प०२३५

३ मराठी वाङ्मयाभिरुचीचे सिंहावलोकन—प्रा० रा० श्री० जोग (सन १९५६ ई०) पृ० ८०

४ मराठी भाषा उद्गम व विकास—कृ० पा० कुलकर्णी पृ० २०७

५ महाराष्ट्र इतिहास दर्शन—रा० चि० ढेरे और मा० दा० खरे पृ० ५२

दासोपंत के समय प्राप्त हुआ। ईसा की चौदहवीं शताब्दी के पूर्वार्ध की खंडित परम्परा एकनाथ काल से पुनः प्रारम्भ हुई।

एकनाथ के पूर्व मराठी साहित्य में शांत, भक्ति तथा वात्सल्य इन तीन रसों में ही अधिकांश रूप में अभिव्यक्ति पायी जाती थी परंतु एकनाथ ने शृंगार, वीर, करुण, हास्य इन लौकिक रसों का अपने कथात्मक एवं जनपदीय काव्यों में परिपोष कर मराठी काव्य की एकांगी प्रवृत्ति नष्ट की। कथा ग्रंथों के रूपकों के माध्यम से अध्यात्म विषयक विचारों का भी उन्होंने समन्वय किया। एकनाथ द्वारा दिग्दर्शित साहित्य की इस नयी दिशा से अनेक साहित्यकार प्रभावित हुए। 'ईसा की सत्रहवीं शताब्दी में महान तथा श्रेष्ठ कवियों की जो वैभवशाली परम्परा मराठी साहित्य में मिलती है उसके वास्तविक सूत्रधार युग प्रवर्तक साहित्यिक संत एकनाथ ही थे।'[1]

साहित्य की विभिन्न शैलियाँ

सत्रहवीं शताब्दी के मध्य से लेकर उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य तक लगभग दो सौ वर्षों का यह कालखंड मराठी साहित्य की समृद्धि की दृष्टि से अत्यंत महत्त्व का माना जाता है। भोंसला शासन का समय भी इसी के अंतर्गत आ जाता है। इस काल खंड के साहित्य में भौतिक उत्कर्ष का प्रतिबिंब स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होता है। मराठी साहित्यकारों ने अपनी बहुमुखी प्रतिभा से साहित्य की विभिन्न शैलियों का प्रयोग कर साहित्य को समुन्नत एवं उत्कृष्ट बनाने का प्रयत्न किया। इस काल के साहित्य को प्रमुख रूप में टीका वाङमय, कथा-काव्य, चरित्र काव्य, गीति काव्य, प्रबंध-काव्य, पंडित-काव्य, शाहीरी काव्य तथा गद्य साहित्य इन विधाओं में विभाजित किया जा सकता है। विस्तार भय के कारण प्रत्येक विधा का अतिसंक्षिप्त परिचय ही दिया जा रहा है।

टीका वाङमय—साहित्य की विविध शैलियों के प्रचलन तथा परंपरा का विकास इसी काल खंड में दिखायी देता है। पांडित्यपूर्ण टीका वाङमय की प्राचीन परम्परा जो ज्ञानेश्वर, दासोपंत, निवृत्तिनाथ रमावल्लभदास, श्यामराज, रघुनाथ मोतारकर आदि कवियों द्वारा पोषित हुई उसका परमोत्कर्ष वामन पंडित का 'यथार्थ दीपिका' में दिखायी देता है। प्राचीन टीका ग्रंथों की त्रुटियाँ ध्यान में रखकर श्रीमदभगवद्‌गीता के अर्थ की यथार्थता जनता के सामने प्रस्तुत करने के उद्देश्य से उन्होंने २२२६६ ओवियों जैसे छन्द के प्रचंड ग्रंथ का प्रणयन किया।[2] गीता के केवल सात सौ श्लोकों के आधार

---

१ प्राचीन मराठी वाङ्मयाचे स्वरूप—प्रा० ह० श्री० शेणोलीकर (सन १९६२ ई०), पृ० १३९

२ मराठी साहित्याची रूपरेषा—डा० वि० पां० दांडेकर (सन १९५२ ई०), पृ० १३५

पर लगभग बाइस हजार ओवियों में लिखी गई 'यथार्थ दीपिका' जैसी विद्वत्ताप्रचुर टीका काव्य में कवि का शास्त्राध्ययन स्मृति पुराणादि का व्यासंग तत्त्वबुद्धि, मतविषयक आत्मविश्वास, स्पष्ट तथा निर्भय वृत्ति आदि के यथार्थ दर्शन होते हैं। वामनपण्डित के काव्य में विविधता, विपुलता तथा विलक्षणता पर्याप्त मात्रा में पायी जाती है। वेदान्त विषयक पुराण आख्यानपरक तथा अनुवादित—इस प्रकार उनके समग्र ग्रंथों का विभाजन किया जायगा। आख्यान-काव्य की परंपराओं अपनी कलात्मक निवेदन पद्धति से इन्होंने विशेष लोकप्रिय बनाया था।

कथा काव्य—कथा-काव्य या आख्यान काव्य की शैली का प्रारंभ यद्यपि एकनाथ के 'रुक्मिणी स्वयंवर' से माना जाता है फिर भी उसका चरम विकास रघुनाथ पंडित नामक कवि के 'दमयंती स्वयंवर' में देखा जा सकता है। केवल 'नल-दमयंती' नामक एक ही काव्य ग्रंथ के बल पर रघुनाथ पंडित आख्यान-काव्य परंपरा में अमरता पा गए। उनके नाम पर 'गजेंद्र मोक्ष' तथा 'रामदास स्तोत्र' इन दो अन्य काव्यों का भी उल्लेख मिलता है परंतु काव्य की दृष्टि से वे रचनाएँ विशेष नहीं हैं। महाराष्ट्र के आबाल वृद्धों के मुख से 'नल दमयंती' के श्लोक आज भी सहजता से मुखरित होते हैं। 'सतसैया के दोहरे' के समान यह काव्य छोटा होने पर भी रसिकों के हृदय पर गंभीर घाव अवश्य करता है। उन्होंने इस काव्य को ओवी जैसे साधारण छन्द में न लिखकर शार्दूलविक्रीडित वसंततिलका शिखरिणी मालिनी द्रुतविलम्बित जैसे अनेक गेय वृत्तों में लिखा।[1] समग्र काव्य में संस्कृत शब्द भंडार का प्रयोग कम ही किया गया है। शृंगार तथा करुण जैसे लौकिक रसों का परिपोष करने के लिए नल दमयंती के समान मानवी प्रेम कथा को चुनने में कवि की चतुरता कल्पनाशक्ति तथा मौलिकता दिखाई देती है।

इस आख्यान-काव्य प्रणाली में मुक्तेश्वर कवि ने कला गुणों की दृष्टि से श्रेष्ठतम निर्माण किया तथा कथा काव्यों की विपुल रचना तथा आकर्षक निवेदन पद्धति के द्वारा कथा-काव्य की प्रणाली को लोकप्रिय बनाने का श्रेय वामनपंडित को दिया जाता है। अतः एक दृष्टि से एकनाथ मुक्तेश्वर तथा वामन ये तीनों इस प्रणाली के प्रणेता माने जाते हैं। फिर भी इस परंपरा का वास्तविक उत्कर्ष रघुनाथ सामराज नागेश विट्ठल तथा आनन्दतनय आदि पंडित कवियों ने ही किया।

चरित्र काव्य—केवल संत चरित्र के लेखन में एकनिष्ठा से संपूर्ण जीवन व्यतीत कर भक्ति विजय, संत लीलामृत भक्तलीलामृत तथा संतविजय (अपूर्ण) जैसे चार चरित्र ग्रंथों का प्रणयन महिपति ने किया। उन्होंने सन १७६२ से १७८६ ई० के बीच में इन चरित्र ग्रंथों का निर्माण कर मराठी साहित्य के चरित्र वाङ्मय को समृद्ध किया।

१　मराठी साहित्याचे सिंहावलोकन—प्रा० द० के० केलकर, पृ० ३४०

'सत चरित्र' लेखन की परंपरा मराठी साहित्य म सच्चिदानन्दबावा, नामदेव इत्यादि के समय म मिलता है तथापि उनके चरित्र काव्य म एकाध दूसरे संतो के ही चरित्र पाए जाते हैं। सच्चिदानन्द बाबा ने ज्ञानेश्वर का चरित्र लिखा था। नामदेव के 'तीर्थावलीच अभग म ज्ञानेश्वर तथा उनके बधुओ के चरित्र देखे जा सकते हैं। बाजीराव प्रथम के आश्रित कवि निरजन माधव ने विविध साहित्य निर्मिति के साथ 'ज्ञानेश्वर विजय' जैसे चरित्र ग्रंथ का भी प्रणयन किया। परन्तु एक ही ग्रंथ म अनेक संतो के चरित्र एकत्रित करने की स्फूर्ति मराठी कवियो को नाभाजी के 'भक्तमाल' नामक हिन्दी काव्य से ही मिली जिसम ज्ञानेश्वर नामदेव आदि इन मराठी संतो तथा महाराष्ट्रेतर अनेक संतो के चरित्रो की सामान्य रूप रेखा है।

नाभाजी के शिष्य प्रियादास ने (शक १६३५) संत चरित्र पर 'भक्तिरस बोधिनी' नामक हिंदी ग्रंथ लिखा। इन दोनो ग्रंथो से उद्धवचिद्घन दासोदिगबर, महिपति बुवा आदि को प्रेरणा मिली।[1] महिपति के ग्रंथो म भी इसी मत की पुष्टि मिलती है। 'भक्तिरसबोधिनी' इस हिंदी ग्रंथ की मराठी टीका मार्तण्ड बुवा नामक कवि ने लिखी जो भक्तिप्रेमामृत इस नाम से प्रसिद्ध है। महिपति के पश्चात सन १७६८ के आसपास भीमस्वामी का 'भक्तलीलामृत' तथा सन १८०४ के आसपास राजाराम प्रसादी की भक्तिमजिरी ये दो ग्रंथ विशेष उल्लेखनीय हैं। उपर्युक्त संत चरित्रो म 'भक्ति मंजिरी' इस चरित्र ग्रंथ का स्थान उच्च कोटि मे माना जाता है।

गीति काव्य—गीत काव्य के अंतर्गत कवियो की अभगवाणी तथा पद-रचना का समावेश हो जाता है। अभग रचना की परंपरा का तुकाराम की अभग वाणी म चरमोत्कर्ष हुआ, वह भी इसी काल मे। एकनाथ दासोपंत, रमावल्लभदास, मध्वमुनि, अमृतराय शिवदिन केसरी आदि कवियो की पदरचनाओं म आत्मनिष्ठ प्रवृत्ति का विलास दिखायी देता है। कोमलकांत पदावली के माधुर्य के कारण भी वे अधिक लोक प्रिय बन हैं। तुकाराम की अभग परंपरा को उन्ही के शिष्य निलोबा पिंपलनेरकर तथा बहिणा बाई ने अपनी रचना की सरसता, उत्कटता तथा मधुर भाषा से अधिक ही लोकप्रिय किया।

संत एकनाथ द्वारा पुरस्कृत लोक साहित्य[2] के अनुकूल वातावरण भी इसी काल म (विशेषत पेशवाइ के उत्तरकाल मे) निर्माण हुआ। परिवर्तित साहित्य प्रवृत्तियो का दर्शन पेशवाकालीन पदरचनाकारों म मिल जाता है जिसकी चर्चा आगे होगी।

प्रबंध काव्य—बहिरा पिसा जातवेद, विष्णुदासनामा कृष्णदास मुद्गल कृष्ण याज्ञवल्की, मुक्तेश्वर आदि कवियों द्वारा सुसपन्न की हुई प्रबधात्मक काव्य धारा का चरमबिंदु उत्तर पेशवाइ काल मे मोरोपन्त कवि द्वारा निर्मित 'आर्याभारत' माना जाता

१ मराठी साहित्याची रूपरेषा—डा० वि० वा० दाडेकर, पृ० १५५

२ पाच संत कवि—डॉ० श० गो० तुळपुळे, पृ० २६० (१९६२)

है। यह महाकाव्य सत्रह हजार पंक्तियों में अभिव्यक्त हुआ है। इस महाकाव्य की मधुर रचना को देखने पर ऐसा लगता है कि मोरोपंत ने अपनी इस काव्य कन्या को नाना विध अलंकारों से सजाकर रसिकों को उसका सालंकृत कन्यादान ही कर दिया है।[1] यह महाकाव्य मोरोपंत की समग्र काव्य रचना में श्रेष्ठ माना जाता है। मोरोपंत की कवित्व शक्ति के संपूर्ण गुणों का विलास इसमें पाया जाता है। 'आर्याभारत विविध रसों का सागर है। उसमें मूर्धाभिषिक्त रस मात्र वीर रस ही है।'[2] मोरोपंत कवि का काव्य-सागर अत्यंत विशाल तथा गहरा है। सन १७५२ से लेकर सन १७९३ तक के ४१-४२ वर्षों का काल उन्होंने प्रचंड ग्रंथ निर्मिति में व्यतीत किया। इस दीर्घ काल अवधि में उन्होंने विविध विषयों तथा विविध शैलियों में काव्य रचना की। उनके केवल प्रकाशित काव्य संग्रहों की पद संख्या ही लगभग साठ हजार तक है।[3] अप्रकाशित रचनाएं तो और भी कितनी होंगी यह कहा नहीं जा सकता।

नामदेवादि संतकवियों में पाया जाने वाली ईश्वर कृपा विषयक उत्कटता, एकनाथ में दिखायी देने वाला गम्भीर ग्रंथ की वक्तव्य पूर्ति का समाधान, वामनादिक पंडितों का पांडित्य, निरंजनमाधवादिकों का रचना चातुर्य, दासोपंतादिकों की प्रचंड लेखन शक्ति, पूर्वकालीन किसी भी अनुवादकों से अधिक प्रामाणिकता, महिपति के समान भगवच्चरित्र गायन में सामान्यजन रुचि आदि अनेक वैशिष्ट्यों का समन्वय मोरोपंत में हुआ है।[4]

पंडित कवि और काव्य—वामन पंडित से लेकर मोरोपंत तक के सभी पंडित कवियों की काव्य निर्मिति कलाविलास तथा पांडित्य प्रदर्शन के हेतु से ही हुई। उनके काव्य को पंडित काव्य अथवा पंत काव्य कहा जाता है। उनका काव्य रचना उत्स्फूर्त न थी। वह आत्मनिष्ठ न होकर विषयनिष्ठ थी। महाकाव्य सदृश प्रबंधात्मक प्रधान शैली ही उन्हें विशेष प्रिय थी। उपास्य देवता के चरित्र के विवाह, युद्ध, रतिक्रीड़ा या रासक्रीड़ा जैसे लौकिक प्रसंगों को उन्होंने अपने काव्य का विषय बनाया था जिससे लौकिक रसों को उनके काव्य में महत्त्व मिला। आलंकारिकता तथा वैचित्र्य निर्मिति के लिए उन्होंने संस्कृत के अनेक वृत्तों का प्रयोग अपनी रचनाओं में किया। स्थल काल परिस्थिति का बंधन कर तत्कालीन समाजजीवन को अपने काव्य में प्रतिबिम्बित किया। अतिशयोक्ति, कलाविलास, शृंगार का अतिरेक, क्लिष्टता, भाषा में ग्राम्य तथा अशुद्ध प्रयोग आदि दोष उनकी रचनाओं में दिखायी देते हैं। फिर भी रस वैविध्य, अलंकार

१ महाराष्ट्र सारस्वत—वि० ल० भावे पृ० ५६४
२ प्राचीन मराठी वाङ्मयाचे स्वरूप—प्रा० ह० श्री० शणोलीकर, पृ० २७५
३ मोरोपंत चरित्र—ल० रा० पांगारकर (प्रथम संस्करण) पृ० १६०
४ मराठी वाङ्मयाचा परामर्श—प्रा० ग० ना० जोगलेकर (सन् १९४६ ई०) पृ २७४

प्राचुर्य, नादमाधुर्य, वर्णन कौशल, रचना सौष्ठव आदि विशेषताएँ भी इस 'पंत काव्य' में दिखायी देती हैं। एक दृष्टि से इन बातों से मराठी का वस्तुनिष्ठ काव्य सम्पन्न ही हुआ। उनकी भाषा संस्कृतप्रधान रहने से सामान्य जनता के लिए दुर्बोध-सी रही।

शाहिरी काव्य—मराठा शासनकाल के उत्तर खंड में शाहिरी काव्य समृद्धावस्था में पाया जाता है। यद्यपि इसकी परंपरा महाराष्ट्र में प्राचीन काल से दिखायी देती है फिर भी यह साहित्य उस समय उतना प्रभावी न रहा होगा, जितना पेशवाई के उत्तर काल में लोकप्रिय था। संभवतः पंडितों के काव्य की प्रतिक्रिया के रूप में ही शाहिरी काव्य जैसे लोक गीतों की प्रणाली का आकर्षण जनता में रहा होगा। अनेक विद्वान इसी काव्य प्रणाली को 'महाराष्ट्र का वास्तविक साहित्य' भी मानते हैं। इस मत की अति व्याप्ति का अंश छोड़ने पर भी यह मानने में कोई आपत्ति नहीं है कि 'शाहिरी काव्य' ने मराठी जनमानस को अभिव्यक्त करने में पर्याप्त सफलता पायी है। छत्रपति शिवाजी महाराज ने मराठी शाहिरों को आश्रय देकर इस परंपरा को प्रोत्साहित किया। इस परंपरा को छत्रपति शाहू महाराज ने शाहिरों को भूमि, वर्षासन, हाथी, घोड़े आदि पुरस्कार[1] देकर अधिक गतिमान किया। बाजीराव द्वितीय तथा छत्रपति प्रतापसिंह भोसले के समय शाहिरों को राजाश्रय तथा लोकाश्रय दोनों प्राप्त होने से शाहिरी काव्य प्रणाली पल्लवित तथा पुष्पित हुई।

इस काव्य में मुख्यतः दो प्रकार की शैलियाँ समाविष्ट की जाती हैं। एक है पोवाड़ा और दूसरी है लावणी। पोवाड़ा विषयगत होता है तो लावणी विषयीगत। पोवाड़ा वीररसपूर्ण है तो लावनी शृंगाररस प्रधान है। पोवाड़ों की तुलना में लावनियों की संख्या अत्यधिक है। मराठा शाही के उत्कर्षकाल के समय प्रारंभ में शाहिरी काव्य प्रणाली ने जीवन का नया आशय व्यक्त किया। पोवाड़ों तथा लावनियों के माध्यम से मराठों का जन जीवन मुखरित हुआ।

संत कवियों की तरह लगभग सभी शाहिरों ने मराठी के साथ साथ हिंदी में भी काव्य रचना की है। शाहिर कवियों में रामजोशी जैसे संस्कृत पंडितों से लेकर सगनभाऊ जैसे मुसलमानों का भी समावेश था। अनंतफंदी होनाजीबाला, परशुराम, प्रभाकर, बालामयस रामजोशी सगनभाऊ गंगूहैबती आदि समाज के विभिन्न स्तरों के शाहिरों ने जानपद या लोकगीतों की इस प्रणाली का उत्कर्ष किया।

गद्य साहित्य

इतिहास को व्यक्त करने वाला व्यवस्थित गद्य साहित्य भी मराठी में शिवाजी कालोत्तर युग में ही निर्मित हुआ। इसके पूर्व भी मराठी साहित्य में यत्र-तत्र गद्य लेखन हुआ परंतु वह अव्यवस्थित एवं अपरिमार्जित था। अपवादस्वरूप महानुभावों का गद्य मराठी साहित्य के आद्य काल में ही लिखा गया था परंतु गुप्त सांकेतिक लिपि

---

१ ऐतिहासिक पोवाडे—य० न० केलकर (सन १९२८ ई०) पृ० ८=

की मंजूषा में बंद होने से उसका अस्तित्व न के बराबर ही था। शिवाजी काल के तथा तदुत्तर काल के राजनीतिक अथवा नामकीय पत्र व्यवहारों तथा बखरों में मराठी के गद्य का साहित्यिक स्वरूप दिखायी देता है। अरबी भाषा के 'खबर' शब्द के वर्ण विपर्यय से 'बखर' शब्द की निर्मिति हुई होगी। सभासदी बखर (सन् १६९७) मल्हारराव चिटणवीस का शिवदिग्विजय (सन १७१८) सन १८२१ में सयाजीराव गायकवाड की आज्ञा से लिखा हुआ 'श्री शिवाजी प्रताप' बाकनीस-कृत ९१ कलमी बखर, मल्हाररावकृत सप्तप्रकरणात्मक शिवचरित्र, तंजावर के वृहदीश्वर मन्दिर में प्राप्त शिलालेख के रूप में भोसलवंशचरित्र, गोविंद खंडेरावकृत शाहू महाराज का बखर, चित्रगुप्त की पानिपतची बखर तथा कृष्णाजी शामराव की भाऊसाहेबाची बखर आदि में गद्य साहित्य मिलता है।

भाऊसाहेबाची बखर बखरवाङ्मय का सर्वश्रेष्ठ नमूना माना जाता है। उस में लेखक ने व्यक्ति दर्शन का उत्तम प्रयत्न किया है। प्रसंगों के वर्णन में अनावश्यक विस्तार इसमें नहीं है प्रत्युत नपे तुले तथा प्रभावकारी शब्दों में उनका चित्रण किया है। इसमें सुभाषितों तथा समर्पक उपमाओं का भी प्रयोग उचित स्थानों पर किया गया है। फारसी तथा संस्कृत शब्द योजना से भाषा में ओजगुण निर्माण करने का प्रयत्न भी दिखाई देता है। भाषा प्रवाहमयी एवं प्रौढ़ है। यद्यपि बीच बीच में अतिशयोक्ति अतिरंजिता भाषाधिक्य, तथा कहीं कहीं ग्राम्यता भी दिखायी देती है तथापि समकालीन पद्य साहित्य की तुलना में बखरकार की अभिरुचि अधिक सुशिक्षित प्रौढ़ तथा संयमशील दिखायी देती है।[1]

भाषा तथा इतिहास दोनों दृष्टियों से बखर साहित्य की अपेक्षा ऐतिहासिक पत्र व्यवहार अधिक महत्त्वपूर्ण है। पिछले ५०-६० वर्षों में अनुसंधान कर्ताओं के परिश्रम से यह पत्र व्यवहार पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध हो चुका है जिनमें से तीस से चालीस हजार पत्र प्रकाशित हो चुके हैं। अप्रकाशित पत्रों की संख्या भी कम नहीं है। मराठा शासक सरदार तथा राजनीतिज्ञ व्यक्ति पत्र लेखन की कला में प्रवीण रहते थे। उनके आश्रय में अनेक बुद्धिमान कल्पक व्यवहार चतुर तथा प्रसंगावधानी पत्र लेखक रहते थे।[2] पद्य की तुलना में इस गद्य साहित्य में मराठी भाषा पर फारसी उर्दू शब्दों का बाहुल्य सहज ही परिलक्षित होता है। कभी कभी तो तत्कालीन पत्रों में प्राप्त ५०-६० प्रतिशत फारसी उर्दू शब्दों को देखकर सीमातीत आश्चर्य होने लगता है। यह प्रभाव या तो एक शैली विशेष के रूप में अपनायी गयी विशेष प्रणाली के कारण होगा या महाराष्ट्रेतर प्रांतों की जनता को यहां के इतिहास से अवगत कराने

---

१ मराठी वाङ्मयाभिरुचीचे विहंगमावलोकन—प्रा० रा० श्री० जोग पृ० १८६

२ प्राचीन मराठी वाङ्मयाचे स्वरूप—प्रा० ह० श्री० शेणोलीकर पृ० ३६३

के हेतु उद्देश्यपूर्वक नियोजित हिंदी उर्दू के शब्दों का परिणाम हो सकता है। इनमें से कुछ पत्र तो हिंदी भाषा में भी लिखे हुए मिलते हैं।

विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि रीतिकालीन मराठी साहित्य सभी दृष्टियों से संपन्न एवं समृद्ध था। संत कवि एकनाथ द्वारा प्रेरित साहित्य की विविध शैलियों तथा परंपराओं को परवर्ती मराठी साहित्यकारों ने चरम सीमा पर पहुँचाया। जब से मराठी को राजाश्रय मिला और वह महाराष्ट्र की राजभाषा बनी तब से मराठी साहित्य के विकास को एक विशेष गति प्राप्त हुई। संत, पंडित कवि शाहिर, चौदणबीस बखर नवीस आदि के द्वारा इसका साहित्य विपुल एवं विविधतापूर्ण हो गया। इसमें ललित साहित्य के साथ ललितेतर साहित्य की भी निर्मिति हुई। तत्कालीन मराठी साहित्य में मार्मिकता के साथ मौलिकता, पांडित्य के साथ प्रतिभा, सामर्थ्य के साथ सौंदर्य उपदेश के साथ आनंद आदि बातें स्वाभाविक रूप से दृष्टिगोचर होती हैं।

१५ मराठी साहित्य की प्रमुख कवयित्रियाँ

स्त्री और पुरुष दोनों के पारस्परिक सहयोग से ही जीवन परिपूर्ण हो पाता है। काव्य जीवन की अभिव्यक्ति है। इस अभिव्यक्ति में स्वाभाविकता, वास्तविकता, तभी आ सकती है जब उसमें जीवन के दोनों अंग स्त्री पुरुष समाविष्ट हो जायें। मराठी काव्य की आठ सौ वर्षों की परम्परा देखने पर स्पष्ट हो जाता है कि प्रारम्भ यानी ईसा की तेरहवीं शताब्दी से लेकर आज तक मराठी काव्य के विकास में यहाँ की महिलाओं ने सृजनात्मक सहयोग दिया है। चक्रधर से रामदास तक (तेरहवीं शताब्दी से सत्रहवीं शताब्दी के अंत तक) के कालखंड में कवयित्रियाँ नहीं मिलतीं। उन्नीसवीं शताब्दी से अवरुद्ध परम्परा का यह स्रोत पुनः प्रारम्भ हो जाता है। इन परिमित पृष्ठों में मराठी की प्रत्येक कवयित्री के सम्बन्ध में विस्तृत विवेचना संभव न होने के कारण उनमें से कुछ प्रमुख कवयित्रियों का सामान्य परिचय मात्र दिया जा रहा है।

महदाइसा (महदम्बा) मराठी की आदि कवयित्री मानी जाती हैं। महानुभाव सम्प्रदाय के प्रवर्तक चक्रधर स्वामी इनके गुरु थे। यह अपने काल में अत्यन्त विदुषी समझी जाती थीं। इनके उपलब्ध मराठी काव्य में धवले 'मान की रुक्मिणी स्वयंवर तथा गर्भकांड ओव्या' विशेष उल्लेखनीय हैं। महदाइसा एक सरल स्वभाव की भोली महिला थीं। सम्भवतः यही कारण होगा कि उनके काव्य में साधारण स्त्री की स्वभावगत विशेषता दृष्टिगोचर होती है। गतिशीलता एवं प्रवाहमयता के कारण उनका समस्त काव्य विशेष लोकप्रिय हुआ है। भाषा सीधी सादी एवं अत्यन्त सरल होते हुए भी चित्तारूपक प्रसंगों के वर्णन में स्वाभाविकता निर्माण करने की क्षमता रखती है। मराठी साहित्य में कथा-काव्य का सूत्रपात इन्हीं से माना जाता है। समय स्फूर्त काव्य होने से वस्तु शैथिल्य, रचना में असंगति, पुनरुक्ति, आदि कुछ दोष इनके काव्य में अवश्य मिलते हैं परन्तु केवल इन्हीं के कारण इनकी महत्ता किसी प्रकार कम नहीं हो सकती। उन्होंने 'धवले' के द्वारा मराठी को एक नये छंद की भेंट दी है। 'धवला' यह छंद कुछ सीमा में मराठी के अभंग की भाँति होता है। इसमें गण, मात्रा

अथवा अक्षर सख्या का बधन नही रहता। सभव है कि महदाईसा के अन्य भी काव्य-ग्रथ होंगे जो अब तक अज्ञात ही हैं। इन्होंने मराठी के साथ हिंदी मे भी रचना की है। इनके द्वारा रचित निम्नांकित पद डा० विनयमोहन शर्मा ने प्रकाशित किया है—

नगर द्वार हो भिच्छा करो हो,
बापुरे मेरी अवस्था लो।
जिहाँ जावो तिहा आप सरिखा
कोउ न करी मोरी चिंता लो।
हाट चोहाटा पड रहूँ हो।
माग पथ घर भिच्छा
बापुड लोग मेरी अवस्था कोऊ
न करी मेरी चिंता लो।

महदाईसा की गुरुभक्ति विशेष प्रसिद्ध है। इनकी हिंदी भाषा मे खडी बोली और ब्रज का मिश्रण है। अभिव्यक्ति मे सहजता, भाषा म प्रासादिकता एव करुण रस की छाया से इनकी रचना अधिक आकर्षक बनी है। यदि इनके और भी हिंदी पद उपलब्ध हो सकें तो अधिक अच्छा होगा।

महदाईसा के पश्चात विशेष उल्लेखनीय कवयित्री हैं—मुक्ताबाई। ज्ञानेश्वरी के रचयिता तथा मराठी साहित्य मदिर की बुनियाद डालने वाले सुप्रसिद्ध सत ज्ञानेश्वर की यह सबसे छोटी बहन थी। उपलब्ध प्रमाणो से इनका जन्म शके १२०१ और मृत्यु काल शके १२१६ मिलता है। अपने भाइयो के समान यह भी असाधारण बुद्धिमती थी। विरागी वृत्ति के कारण इन्होने आजन्म कौमार्य व्रत का पालन किया था। अठारह वर्ष की अवस्था ही मे इन्हे इस ससार से सदा के लिए बिदा होना पडा। परन्तु अलौकिक प्रतिभा एव तेजस्वी बुद्धि चातुर्य के कारण इतनी-सी उम्र मे भी इन्होने अनेक अभग पद, कल्याण पत्रिका, हरिपाठ ताटीचे अभग आदि काव्यों की रचना की है। मुक्ताबाई की रचना म माधुर्य गुण विशेष द्रष्टव्य है। यद्यपि आत्मबोध इनके काव्य का प्रमुख विषय था, फिर भी मानवी जीवन के अनेक अनुभवो तथा दया, क्षमा, शान्ति आदि सद्गुणो पर भी इन्होने समय समय पर स्पष्ट विचार व्यक्त किये हैं। उनकी आध्यात्मिक विचार धारा ज्ञानेश्वर के समान ही थी। स्त्री जीवन की मृदुता, अनुभवो की कठिनता, स्पष्टोक्ति एव भावना की उत्कटता आदि बातें इनके काव्य म विशेष रूप से परिलक्षित हैं। इनकी बहुत ही कम रचनाएँ उपलब्ध हुई है। उपलब्ध रचना को देखकर अनुमान होता है कि इनकी और भी रचनाएँ अवश्य रही होंगी जो काल कवलित हुई होंगी। महदाईसा की भाति इनकी भी हिन्दी रचनाएँ प्राप्त होती हैं—

वाह वाह साहब जी सदगुरु लाल गुसाई जी
लाल विच मा उडला काला ओंढ पीठ सों काला।

पीत उनमनी भ्रमर गंफा रस भूलन वाला।
सदगुरु चेले दोनों बराबर एक दस्त या भाइ।
एक से एक दर्शन पाये महाराज मुक्ताबाई।

सुप्रसिद्ध सन्त नामदेव की दासी जनाबाई ने भी अपनी भावनाओं को काव्य के माध्यम से व्यक्त किया है। नामदेव जैसे सन्त के संपर्क से जनाबाई के मन में भी विठ्ठल के विषय में भक्ति आविर्भूत हुई। परमात्मा के नाम संकीर्तन में तल्लीन होने में इन्हें अनाम आनन्द की अनुभूति होने लगी। इन्होंने नामदेव का कीर्तन कई बार सुना था इसलिए पौराणिक कथाओं का ज्ञान इन्हें अनायास ही प्राप्त हुआ था। परमात्मा का गुणगान करना मानो इनका स्वभाव बन चुका था। यह विठ्ठल को ही माता के रूप में देखती थी। जनाबाई के उपलब्ध स्फुट अभंगों से स्पष्ट दिखायी देता है कि ये पाडुरंग की एकनिष्ठ सेविका थी। हृदय में उत्पन्न प्रत्येक कल्पना अपने और परमात्मा की परस्पर श्रद्धा के माध्यम से अभिव्यक्त करने की नवीन कला का प्रारंभ जनाबाई ने ही किया।

जनाबाई का समस्त काव्य भगवत्प्रेम से प्लावित है। अध्यात्म, भगवद्भक्ति, नाम महिमा पौराणिक आख्यान आदि जनाबाई की कविता के प्रमुख विषय हैं। इनकी रचना में स्त्री सुलभ मृदुता, कारुण्य, हृदय की आर्द्रता आदि बातें सहज रूप से पायी जाती हैं। स्फुट अभंग के अतिरिक्त भक्तिरस पूर्ण कुछ कथा-काव्य भी इन्होंने रचे हैं, जिनमें 'थालिपाक' दुर्वास भोजन नामक काव्य उत्कृष्ट कोटि का माना जाता है। मन का भोलापन, वाणी का स्नेह तथा भाषा का सारल्य इनकी रचनाओं में सर्वत्र पाया जाता है। तुकाराम के पश्चात महाराष्ट्र में जनाबाई के ही अभंग विशेष लोकप्रिय हैं। किंवदन्ती है कि नामदेव के शतकोटि अभंगों में साढ़े बारह कोटि अभंग जनाबाई के थे। परन्तु जनाबाई के नाम पर मिलने वाले अभंगों की संख्या ०० से अधिक नहीं है जिनमें से कई अभंग प्रक्षिप्त भी माने जाते हैं। सन १३५० की आषाढ़ कृष्ण १३ को जनाबाई समाधिस्थ हुई। इनके एक अभंग से ज्ञान होता है कि ऐहिक जीवन की समस्त कामनाओं की पूर्ति का समाधान इन्हें अंतिम समय मिला था—

माझे मनी जं जें होते। तें तें दिधले अनंते॥
देह नेऊनी देही केलें। शांति देऊनि भी पण नेलें॥
मूल दिले हे क्रोधा चे। ठाणें केले विवेकाचें।
निजपदीं दिला ठाव। जनी म्हणे दाता देव।

वारकरी संप्रदाय के श्रेष्ठ भक्त तुकाराम की शिष्या बहिणाबाई का नाम महाराष्ट्र की कवयित्रियों में विशेष उल्लेखनीय है। इनके पति का नाम रत्नाकर पाठक था। उनके वंश में शक्ति की उपासना होती थी। इनके अभंगों से प्रतीत होता है कि इनका सौभाग्य अधिक समय तक न रहा होगा। वयावस्था में स्वभावतः इनकी वृत्ति अध्यात्म की ओर उन्मुख हुई। कहा जाता है कि स्वप्न में इन्हें सदगुरु तुकाराम के दर्शन हुए और उन्हीं की कृपा से बहिणाबाई में कवित्व शक्ति अंकुरित हुई।

बहिणाबाई की अधिकांश रचना स्फुट रूप में ही प्राप्त होती है। इनकी गाथा में कुल मिलाकर ८८ अभंग हैं जिनमें ७३ आत्मचरित्र पर और ३५ निर्वाण विषयक हैं। इनके अतिरिक्त ज्ञान, भक्ति, वैराग्य ब्रह्म, विठ्ठल, संत, सद्गुरु ब्राह्मणत्व, पतिव्रता धर्म, पुनर्जन्म, प्रवृत्ति निवृत्ति आदि विभिन्न विषयों पर इनके लगभग ४०० अभंग हैं। प्रासादिकता, निस्पृहता, सरलता इनके काव्य के विशेष गुण माने जाते हैं। इन्होंने मराठी के अतिरिक्त हिन्दी में भी काव्य रचना की है कबीर की उल्टबासी की भाँति इनके अद्भुत रसपूर्ण छंद प्रसिद्ध हैं—

> अजब बात सुनाई भाई।
> गन्ड पाव हिरावे काणा लम्नो घरन चुराई।
> ये सूरज की चाँद अँधारे सोवे चवरकू माग जलावे
> राहु के गिर हो योगी क्या रे अमृत ले भर जावे
> मूवेर सोवे मरके सास हनुमान नीर मगावे
> बसे सयहि झूठा है निंदा को बात सुनावे।
> समोंदर लाहों चोरत कसा साधु मागन दान
> बहिणी कहे जन निडर है रे याशो सोच न मान ।।

बहिणाबाई ने अपने भावों को व्यक्त करते समय शब्द चयन की ओर उतना ध्यान नहीं दिया जितना देना आवश्यक था। इनकी हिन्दी मराठी दोनों रचनाओं में यह दोष पाया जाता है। इसके बावजूद भी इनका समस्त काव्य अपनी विशेषता रखता है और उनकी रसात्मकता में किसी प्रकार की हानि नहीं हुई है। इनकी मृत्यु शके १६२२ में मानी जाती है।

समर्थ-सम्प्रदाय के प्रवर्तक समर्थ रामदास स्वामी की प्रमुख शिष्या थी वेणाबाई। इनकी भी बहुत सी रचनाएँ उपलब्ध होती हैं। इन्हें बाल्यावस्था ही में वैधव्य प्राप्त हुआ था। यह स्वभाव में शांत एवं विरागी वृत्ति की थीं। रामदास का शिष्यत्व स्वीकार करते समय वेणाबाई का विरोध ससुराल तथा मैके के रिश्तेदारों ने किया था। परन्तु इन्होंने अपनी मनोवृत्ति को निश्चल ही रखा। वेणाबाई के प्रसिद्ध ग्रंथ का नाम है 'सीता स्वयंवर'। रामायण के इस प्रसंग पर यद्यपि पूर्ववर्ती कवियों ने रचना की थी तथापि सर्व प्रथम ओवीबद्ध रचना इन्हीं की मानी जाती है। इस ग्रंथ में १८६ ओवियाँ पायी जाती हैं।

'सीता स्वयंवर' के अतिरिक्त 'कौल' और 'राम गुह संवाद' नामक दो स्फुट काव्य भी इन्होंने रचे हैं। 'कौल' का अर्थ है राजा से प्रजा को मिलने वाला अभय-पत्र। रावण का नाश करने के पश्चात जब प्रभु रामचन्द्र जी सिंहासनस्थ हुए तब प्रजा ने उनके पास जा मांग की उसका वर्णन 'कौल' काव्य में है। राम गुह संवाद में ४४ श्लोक हैं। वेणाबाई के काव्य पर इनके गुरु रामदास के काव्य का प्रभाव स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होता है। छंद शास्त्र तथा व्याकरण के नियमों का बंधन यद्यपि इन्होंने नहीं माना है फिर

भी इनकी कविता म रचना चातुर्य, कल्पना विलास एव वर्णन शैली आदि का सौंदर्य निर्वाध ही रहा है। स्वानुभव और दृढ भक्ति इनके काव्य की आधारशिला हैं।

इस कालखण्ड म इनके अतिरिक्त 'काहोपात्रा, प्रेमाबाई, बयाबाई आदि कवयित्रियों के नाम भी उल्लेखनीय हैं। सभी की कविता का विषय भक्तिप्रधान हा था। स्त्री सुलभ स्वभावानुसार नित्य जीवन के घात प्रतिघात, सुख दु ख, आशा निराशा आदि का निरूपण भी इन्होंने बडी कुशलता से काव्य द्वारा कराया है। ईसा की सत्रहवी शताब्दी के अन्त म रुकी हुई कवयित्रियो की परम्परा उन्नीसवी शताब्दी स पुन प्रारम्भ हुई। आधुनिक काव्य की अभिव्यजना शली मे युगानुसार परिवतन दिखाई देता है। अँग्रेजी शासन-काल म आग्ल साहित्य के अध्ययन का अवसर यहाँ की सुशिक्षित जनता को मिला। देश मे सामाजिक धार्मिक तथा आर्थिक क्षेत्रो म क्रांतिक आदोलन शुरु हुआ था। इन सभी का प्रत्यक्षाप्रत्यक्ष परिणाम स्वाभाविक रीति से मराठी काव्य पर भी हुआ। प्राचीन काव्य के अध्यात्म, भक्ति, नीति बोध आदि प्रमुख विषयो के स्थान पर लौकिक, ऐहिक निसर्ग विषयक विषयो का समावेश भी होने लगा। प्रतिदिन क जीवन के निकटवर्ती विषयो का व्यक्तिकरण काव्य मे दिखाई देने लगा। आत्मानुभूति आत्माभिव्यक्ति की भावना कविया म विशेष रूप से पाई जाने लगी। जाति-भेद विषमता पारतन्त्र्य के स्थान पर बधुत्व समता स्वातन्त्र्य की स्थापना करने की तीव्र भावना काव्य द्वारा भी व्यक्त होने लगी। महिलाओ के रूढिगत बन्धनो एव नारी के दुखो को भी वाणी मिलने लगी।

व्यक्ति स्वातन्त्र्य के अनुसार प्रेम विषयक स्वातन्त्र्य की माँग आधुनिक कविता म होन लगी। आत्म निवेदनपरक प्रेम काव्य का निर्मिति होने लगी। नयी कविता म प्रेम का चित्रण अत्यन्त स्वाभाविक एव मुक्त रूप म किया जाने लगा। वासना पर प्रेम क स्थान पर उदात्त, शुद्ध मानसिक एव बौद्धिक प्रेम का चित्रण का र म होन लगा। मराठी काव्य क अन्तरग तथा बहिरग दोनो म परिवतन होने लगा। आधुनिक काल म साहित्य क विविध अगो के विकास म महिलाओ न मजनात्मक सहयोग दिया। काव्य के क्षेत्र म भी अनेक महिलाओ ने रचनात्मक एव प्रशंसनीय काय किया। इस काल की प्रमुख कवयित्रियो म लक्ष्मीबाई टिलक बहिणाबाई चौधरी मालतीबाई रानडे पद्मा गोरे, सजीवनी मराठे, इन्दिरा सन्त शान्ता शेळके आदि कवयित्रियो क नाम विशेष उल्लेखनीय हैं।

लक्ष्मीबाई टिलक स अर्वाचीन मराठी कविता का वास्तविक प्रारम्भ माना जाता है। इनका बाल्यकाल सस्कारशील ब्राह्मण परिवार म व्यतीत हुआ। ग्यारहवें वर्ष की अवस्था म कवि रे० टिलक के साथ इनका विवाह हुआ। टिलक क अस्थिर स्वभाव के कारण इन्हे अपने जीवन म स्थिरता एव शान्ति नसीब हो नहीं होती। सन १८९५ म टिलक का ईसाई धर्म का स्वीकार करना लक्ष्मीबाई जसी हिन्दू नारी को अशुभ तथा दु खद लगता था। ऐसी स्थिति म भी इन्होंने बड धीरज क साथ काम

किया। उस असहाय परिस्थिति में ही इनके काव्य का जन्म हुआ। राष्ट्रीय अध्यात्मपरक, सामाजिक, सन्दर्भपरक, भक्तिपरक, आदि विविध विषयों पर इन्होंने काव्य रचना की। वात्सल्य रसपूर्ण शिशु गीतों की रचना भी इन्होंने की है।

इनकी प्रथम कविता का जन्म सन १८६८ ई० में हुआ। इनकी स्फुट कविताओं का एक संग्रह सन १६५१ में तैयार किया गया जिसका नाम 'भरली धागर' है। अपने पति रे० टिलक के अपूर्ण काव्य 'ख्रिस्तायन' को इन्होंने पूर्ण किया। इनके काव्य में भक्ति, करुण और वात्सल्य इन रसों की त्रिवेणी अबाध गति से बहती है। इनके काव्य में गेयता का गुण भी है। यद्यपि इनके द्वारा लिखित बाल-गीतों में अथवा आध्यात्मिक गीतों में कलात्मकता एवं स्वाभाविकता का अभाव सा नजर आता है फिर भी समस्त काव्य में दृष्टिगोचर होने वाली प्रतिभा, प्रसाद गुण, विनय एवं सूक्ष्म विनोद आदि के कारण इनका काव्य अपना विशेष महत्व रखता है। कुछ कविताओं में सामाजिक समस्याओं को रखकर इन्होंने सुधारवादी दृष्टिकोण भी व्यक्त किया है। लक्ष्मीबाई ने मराठी कविता को एक नया मार्ग दिखाया। उसी मार्ग के खुल जाने से लक्ष्मी तनया लक्ष्मीबाई केहरे शारदाबाई पराञ्जपे हिराबाई पेडणेकर गान्नाबाई फणसे, मनोरमाबाई रानडे, आदि कवयित्रियों ने काव्य क्षेत्र में पदार्पण किया। इसीलिए लक्ष्मीबाई टिलक से आधुनिक मराठी कविता का सूत्रपात माना जाता है।

लक्ष्मीबाई टिलक के पश्चात कालखंड की दृष्टि से बहिणाबाई चौधरी का नाम विचारणीय है। महाराष्ट्र में केशवसुत, कवि बी, विनायक तावे गडकरी जैसे प्रतिभा सम्पन्न कवि जिस समय अपनी काव्य प्रतिभा से जनता को आकृष्ट कर रहे थे उसी समय बहिणाबाई चौधरी की कविता का भी जन्म हुआ था, परन्तु दुर्भाग्य से वह कविता बहुत दिनों तक अज्ञात रूप में ही रही। सन १९५१ ई० में इनके पुत्र सोपानदेव चौधरी ने आचार्य अत्रे द्वारा इसे मराठी जनता के सम्मुख रखा। इस कविता में बहिणाबाई की अपूर्व प्रतिभा के दर्शन सहज ही हो जाते हैं। बहिणाबाई एक सीधी सादी कृषक महिला थी। जलगाँव नामक शहर में वह अपने परिवार का जीवन वाटिका में रम चुकी थी। ग्रामीण वातावरण में रहकर बहिणाबाई जैसी एक अशिक्षित महिला में काव्य में प्राप्त काव्य गुण शिक्षितों को भी प्रेरणा देते हैं। इनके काव्य में लोकगीतों की झलक दृष्टिगोचर होती है। दैनंदिन जीवन के विषयों को ही इन्होंने अपने काव्य का विषय बनाया। इनके काव्य में स्वाभाविकता, सर्वत्र दिखाई देती है।

सुशिक्षित न होते हुए भी इन्होंने अपने काव्य की उत्पत्ति के संबंध में जो कथन किया है वह आंग्ल कवि वर्डसवर्थ की काव्य की परिभाषा Poetry is the spontaneous overflow of powerful feelings से कितना साम्य रखता है—

अरे घरोटा घरोटा। तुझ्यातून पडे पीठी।
तसं माझं गानं। पोटातून येत व्होटीं।

प्रसादोचित सम्पादन भाषा की सुकुमारता, कल्पना की रमणीयता, आदि काव्यगुणों के अतिरिक्त इनका जीवन विषयक तत्वज्ञान भी विशेष उल्लेखनीय है। संसार में रहकर भी विरक्त एवं अनासक्त वृत्ति में देखने का मनो का दृष्टिकोण इनके काव्य में भी पाया जाता है। इस दृष्टिकोण को इन्होंने नित्य जीवन में प्राप्त भले बुरे प्रसंगों में से ही पाया था, उसके लिए इन्होंने वेदान्तशास्त्र आदि का अध्ययन नहीं किया था। स्वानुभव से ही इन्होंने जीवन का अर्थ लगाया। इसीलिए उनका जीवन विषयक तत्वज्ञान विशेष प्रभावशाली एवं सत्य समावेशक रहा है। इन्होंने गृहस्थी को सुख दुःख का व्यापार कहा है जो कभी नकद तो कभी उधार करना पड़ता है। प्रेम और प्रीति की मधुरतारहित में कृतज्ञता सहिष्णुता प्रामाणिकता आदि मानवोचित गुणों को भूलने वाले मनुष्य के प्रति कवयित्री का मन अत्यन्त खिन्न हो जाता है और वह स्पष्ट रूप से पूछती है—

मानसा मानसा कधी होशील मानूस ।[1]

इंदिराबाई सन् १९२६ से आज तक काव्य के गगन का धाम अखण्डित रूप में धानू रखा है। इनके प्रसिद्ध काव्यसंग्रह हैं—गर्भा, मेंदी और मृगी। अन्य आधुनिक कवयित्रियों की भाँति इनके काव्य का भी प्रधान विषय प्रेम ही है। परन्तु यह प्रेम विविधता में सुगन्धित होकर सुख एवं रसिक वृत्ति से व्यक्त हुआ है। रचना में सरलता आडम्बर हीनता के दर्शन होते हैं। स्वयं देखे हुए और अनुभव किये हुए इनका हृदय के मनोभावों को व्यक्त करने का प्रामाणिक प्रयत्न इनके काव्य में देखा जा सकता है। प्रसादगुण के कारण काव्य में सरलता सुबोधता आ चुकी है। इनकी रचना में कहीं भी कृत्रिमता की गंध तक नहीं आती।

विवाहोत्तर काल में प्रफुल्लित जीवनोद्यान में लिखित उल्लास युक्त प्रेमगीतों की भाँति ही पतिनिधनोत्तर काल में लिखित विरहजन्य गीत भी हृदय को प्रभावित किये बिना नहीं रहते। उसका प्रमुख कारण है विषय की भावना के प्रति कवयित्री की एकरूपता, तन्मयता चाहे वह विषय सुख का हो या दुःख का। इन्होंने किसी कवि का हेतुपूर्वक अनुसरण न करते हुए स्वतन्त्र विचारधारा का अनुसरण किया है। अन्य कवियों के विचारों से कुछ विचार यदि साम्य रखते हैं तो वह संयोग मात्र है। इंदिराबाई की कविताओं ने संसार के यथार्थ चित्र उपस्थित किये हैं जो कविता की लोकप्रियता के अनेक कारणों में एक हैं। अनावश्यक कृत्रिम अलंकारों से शृंगारित करना सम्भवतः इंदिराबाई को पसन्द नहीं था। स्वभावतः रूपसम्पन्न वनिता को कृत्रिम अलंकारों की आवश्यकता ही क्या है? किसी प्रसंग विशेष पर यदि कुछ अलंकार डाले जाते हैं तो सौंदर्य की शोभा द्विगुणित हो सकती है। इंदिराबाई की 'काव्यवधू' को देखने पर उसकी शालीन, संयमी वृत्ति, एवं निरलंकृतता के प्रति सहज में आदर भाव ही प्रकट होता है।

---

१ हे मनुष्य, तू वास्तविक मनुष्य' कब होगा?

सजीवनी मराठे की कविताओं में गीति तत्व की प्रधानता है। उनकी कविता प्रथम भावरूप से मन में जन्म लेती है और बाद में अभिव्यक्ति के समय शब्दरूप में। एक उत्तम काव्य गायिका के रूप में इनकी प्रसिद्धि है। काव्य के वातावरण एवं रस के अनुकूल स्वरों का उपयोग कर ये कविता का गायन करती हैं इसलिये काव्य के भाव अधिक प्राणवान बन जाते हैं। ससार, राका, छाया, भावपुष्प, चित्रा, आदि इनके विशेष प्रसिद्ध काव्यसंग्रह हैं। प्रेम और वात्सल्य इनकी कविताओं में विशेष उल्लेखनीय हैं। इसके अतिरिक्त प्रार्थना, गीत, भजन, कीर्तन, प्राकृतिक गीत, राष्ट्रीय गान तथा मगल संस्कार विषयक कविताएँ भी इनकी रचनाओं में पायी जाती हैं। भाषा और रचना-कौशल दोनों दृष्टियों से इनकी कविता अत्यन्त कलात्मक है। संगीतात्मकता तथा नादमाधुर्य कविता का वैशिष्ट्य है।

इन्होंने भावगीतों के अतिरिक्त शास्त्रीय संगीत के रागों के अनुकूल भी कुछ रचनाएँ की हैं। काव्यानुकूल विषयों का चयन आवश्यकतानुसार भावना स्पर्श तथा रचना कौशल की सापेक्षता इन गुणों से आधुनिक कवयित्रियों में सजीवनी मराठे का नाम विशेष रूप से लिया जाता है। विषय तथा विचारों की मर्यादा कवयित्री ने अपने काव्य में रखी है। इनकी अधिकांश कविता आत्मनिष्ठ स्वरूप की है। इनके लगभग सगहन काव्य में माधुर्य एवं प्रसाद गुणों का मधुर मिलन बन पड़ा है। ये हाल ही में मराठी और हिन्दी विषय लेकर एम० ए० की परीक्षा उच्च श्रेणी में उत्तीर्ण हुई हैं। भविष्य में मराठी कविता को इनसे बहुत आशाएं हैं।

सजीवनी मराठे की भांति पद्मा गोले का नाम भी विशेष उल्लेखनीय है। नवयुग की स्त्री जीवन की विशेषता दिखाने वाली इनकी कविताओं के संग्रह 'प्रीतिपयावर' और 'नीहार' चित्ताकर्षक एवं भावाभिव्यक्ति के उत्तम उदाहरण हैं। इन संग्रहों की लगभग आधी कविताएँ प्रेम विषयक हैं जिनका स्वरूप भावगीतों की भांति है। विषयों का वैचित्र्य, भावनाओं का वैचित्र्य, विचारों की प्रभावी सामर्थ्य आदि के कारण इनकी कविता के उज्ज्वल भविष्य की मानो सूचना ही प्राप्त होती है। प्रणयी जीवन के विविध चित्र इन्होंने उपस्थित किये हैं। यद्यपि इन्होंने प्रेम काव्य को ही प्राधान्य दिया है फिर भी विशेषता यह है कि इन्होंने अधिकांश रचनाओं में केवल सफल प्रेम का ही चित्रण नहीं किया अपितु असफल प्रेम का चित्रण भी किया है।

इनकी प्रेम भावना में कुछ प्रतिकारात्मक एवं अधिकांश सहानुभूति की वृत्ति के दर्शन हो जाते हैं। प्रेम भावना के एक नवीन अंग का चित्रण इनकी कविता में किया गया है। इनके काव्य के स्त्री पात्रों को पति की पूजा में अतीव सन्तोष एवं प्रसन्नता अवश्य है परन्तु साथ ही साथ वे व्यक्ति स्वातन्त्र्य भी चाहती हैं। पद्मा गोले के वात्सल्य रसयुक्त गीत भी अप्रतिम हैं। 'अभिलाषा और मी माणूस' शीर्षक कविताओं में अत्यन्त स्पष्टोक्ति है। स्त्री को केवल उपभोग की वस्तु मानने वाले पुरुषों की बड़ी कलात्मकता से इन्होंने 'अभिलाषा' में खबर ली है। 'मी माणूस' में कवयित्री ने जीवन की ओर बड़ी निर्भीकता से देखा है। संसार में दिखाया दिखावा का स्वार्थ एवं

रूप आदि का सुन्दर चित्रण इन्होंने किया है। इनकी समस्त कविता गतिशील एवं सहज सुन्दर भाषा से विभूषित है। रहस्य की ओर इनका झुकाव दिखायी दे रहा है फिर भी इनकी कथन शैली आकर्षक है। इनके काव्य में प्रसाद और माधुर्य गुण भी पर्याप्त मात्रा में पाये जाते हैं। 'फुलपरी' नामक कविता में इन्होंने अपनी भूमिका स्पष्ट करते हुए लिखा है—

> फुलपरा मी मध्या फुलाची
> मानवते चा ध्वज करि घन्नो
> उच स्वराते स्वतंत्रतेची
> गाइन उज्ज्वल मंगल गाणी।

मराठी की आधुनिक प्रमुख कवयित्रियों में सबसे पहले कवयित्री शांता शेलके का नाम लिया जाता है। ये बम्बई के एक कालेज में प्राध्यापिका हैं। 'वर्षा' और 'रूपसी' इनके प्रसिद्ध काव्य संग्रह हैं। इन्होंने अपने जीवन की सुख दुखमय अनुभूतियों को काव्य के माध्यम से व्यक्त किया है। एक स्थान पर स्वयं कवयित्री ने लिखा है कि मेरी कविता मुझे इसलिए भाती है कि उसमें विशिष्ट अनुभूतियों तथा विशिष्ट आशाओं के चित्रों का अंकन किया गया है। इनका काव्य शुद्ध सरल एवं निरलस आत्माभिव्यक्ति से युक्त है। इसी कारण से यह जनसाधारण के लिए भी बोधगम्य हो चुकी है। प्रासादिकता, काव्य सौष्ठव, शब्द प्रभुत्व आदि गुण इनकी कविता की लोकप्रियता के रहस्य हैं। अपने मन की भावना को यथायोग्य रूप से शब्दों के माध्यम से व्यक्त करने में शांताबाई सिद्धहस्त हैं।

इनका जीवन विषयक तत्वज्ञान संमिश्र रूप में पाया जाता है। आशा निराशा की आँखमिचौनी इनके काव्य में पायी जाती है। किसी प्रकार मन की अनुदारता एवं संकुचितता इनके जीवन विषयक काव्य में नहीं मिलती। अपना मन व्यापक, विचार मुक्त रखने यही इनकी इच्छा है। इनकी कविताओं में रहस्यमयता अथवा गूढ़ता नहीं है। इनकी प्रेमविषयक कविताओं में निराशा तथा वैफल्य का स्वर ही अधिक दिखायी देता है। शरीर सुख के बिना वास्तविक प्रेम की तृप्ति नहीं हो सकती। यह विचार अनेक बार इनके काव्य में दृष्टिगोचर होता है। मुग्धा के प्रेम भावों के चित्र भी इन्होंने सफलता से चित्रित किये हैं। जीवन में निराशा आने पर भी शांताबाई ईश्वर श्रद्धा के आधार पर स्थिर रह पाती हैं। अन्य कवयित्रियों की भाँति वात्सल्य गीतों या शिशुगीतों में इन्हें इतनी सफलता नहीं मिली। इनका प्रकृति वर्णन विशेष उल्लेखनीय है। प्रकृति के केवल सुकुमार चित्रों का अंकन करने के स्थान पर अपने सुख दुख से समरस होने वाले प्राकृतिक गीत लिखना इन्हें विशेष पसन्द है। मराठी साहित्य को इनसे और भी आशाएँ हैं।

इनके अतिरिक्त और भी कई कवयित्रियाँ हैं जिन्होंने अपनी प्रतिभा के अनुसार काव्य सृजन कर मराठी सारस्वत के उद्यान को सजाया है। इससे स्पष्ट हो जाता है

कि मराठी काव्य के विकास मे पुरुषो के अतिरिक्त महिलाओ ने भी रचनात्मक सहयोग दिया जिससे जीवन के विभिन्न अगो की अभिव्यक्तिया हो पायी। पहले ही स्त्री मन कविमन होता है, और जिन स्त्रियो म नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा का साक्षात्कार होता है उनके काव्य के सम्ब ध में कहना ही क्या? स्त्री जीवन के वास्तविक दर्शन मराठी कवयित्रिया के द्वारा अभिव्यक्त काव्य म स्पष्टत दृष्टिगोचर होते हैं। जीवन क्षेत्र की भाँति साहित्य क्षेत्र मे भी महिलाओ का यह योगदान अपना एक विशेष महत्त्व रखता है।

१६ | भक्तिकालीन हिन्दी-काव्य में भावनात्मक ऐक्य

भारत एक विशाल एवं वैशिष्ट्यपूर्ण देश है। इसमें धर्म, पन्थ, जाति, भाषा, प्रदेश, प्रथा, खाद्य पेय आदि में भिन्नता होते हुए भी आन्तरिक अभिन्नता के दर्शन होते हैं। इस रहस्यमयी व्यवस्था का पृष्ठाधार भारत की प्राचीन परम्परा एवं सर्व समावेशक संस्कृति ही है। विश्व के इतिहास से ज्ञात होता है कि अनेक विकसित एवं सम्पन्न संस्कृतियाँ भी पतन के गर्त में विलीन होती रही हैं। कुछ अपवादात्मक संस्कृतियों में भारतीय संस्कृति भी विशेष उल्लेखनीय है जिसने शताब्दियों में अपनी उज्ज्वल परम्परा की रक्षा की और अपनी अलौकिक शक्ति से सम्पूर्ण विश्व में आकर्षण उत्पन्न किया। उसके इस गौरव का वास्तविक श्रेय उन मनीषियों को देना चाहिए जिन्होंने भारतीय संस्कृति की आड़ में मानवता की रक्षा की और अपने जीवन का ध्येय बनाया। इन मनीषियों में भक्तिकालीन हिन्दी कवियों का भी महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है।

प्राचीन काल से प्रचलित परम्परा अन्य देशों के समान नष्टप्राय न होते हुए आज भी भारत में सुरक्षित रूप में पाई जाती है। इससे भारतीय संस्कृति का उदात्त तथा मानवतावादी दृष्टिकोण अधिक स्पष्ट हो जाता है। मानवता भारतीय संस्कृति की आत्मा है। मनुष्य में सत्प्रवृत्ति तथा दुष्प्रवृत्ति दोनों का अस्तित्व होता है। कभी-कभी मनुष्य में स्वार्थ का आकर्षण इतना बढ़ जाता है कि वह सत्प्रवृत्तियों का आश्रय छोड़ देता है और काम, क्रोध, मद, मत्सर आदि षड्रिपुओं के जाल में फँस जाता है। यही प्रवृत्ति जब व्यष्टि से समष्टि में प्रसारित होती है तब समाज तथा संस्कृति के पतन का भय बना रहता है। साम, दाम, दण्ड, भेद आदि में किसी भी समयोचित उपाय से यदि समय पर ही इन दुष्ट प्रवृत्तियों के दमन का प्रयत्न किया जाए तो समाज एवं संस्कृति का संरक्षण हो सकता है। ऐसी स्थिति में धार्मिक द्वेष, जातीय भेदभाव, प्रान्तीय अभिमान इत्यादि दुष्प्रवृत्तियों को मूलतः नष्ट कर उनमें ऐक्य प्रस्थापित करने का आवश्यक तथा महत्त्वपूर्ण कार्य कुछ लोगों को करना पड़ता है। भारत में इस प्रकार के प्रयत्नों की अखण्ड परम्परा पाई जाती है। जब-जब देश में ऐसी स्थिति प्राप्त हुई थी तब-तब भारतीय संत कवियों ने 'पर हित सरिस

धर्म नहीं भाई' का सजीवनी-मन्त्र देकर भारत की जनता म भावनात्मक-ऐक्य प्रस्थापित कर उसे दृढ बनाने का काय किया।

सन्तो ने समाज को केवल निवृत्ति-माग की शिक्षा दी जिससे समाज म विफलता तथा निराशा की भावना निर्मित हुई—यह सन्त काव्य की ओर देखने का एकांगी दृष्टिकोण है। परन्तु विशाल दृष्टि से तत्कालीन परिस्थिति की पाश्व भूमि पर सन्तो के काय का विचार करने से ज्ञात हो जाता है कि सन्त-कवियो ने समाज को निबल तथा उदासीन नही बनाया, अपितु निबल के बल राम की उपासना सिखा कर समाज को विशृखलित होने से बचाया। सन्तो ने सम्भ्रान्त जनता को जीवन की नई दृष्टि देकर दुवल तथा अनिष्ट प्रवत्तियो का प्रतिकार कर 'रामराज्य' की स्थापना के लिए सुसज्जित किया। तत्कालीन परिस्थिति म भारत का सामाजिक नेतृत्व सन्तो ने ही किया था।

व्यापक अथ म 'सन्त' शब्द सगुणोपासक तथा निर्गुणोपासक दोनो के लिए प्रयुक्त किया जाता है। इस लेख मे भी सन्त शब्द का प्रयोग इसी व्यापक अथ म किया गया है। मानवतावाद के श्रेष्ठ समथक महात्मा कबीर की वाणी म प्राप्त आत्म विश्वास, निर्भीकता, अन्याय तथा अत्याचार के प्रति विद्रोह, आडम्बर युक्त धार्मिक प्रथाओ के निमूलन की भावना देखकर कौन कह सकेगा कि उन्होने दुवल, जजरित तथा सम्भ्रान्त समाज को सबल तथा सशक्त नही बनाया? गोस्वामी तुलसीदास के सुप्रसिद्ध महाकाव्य 'रामचरित मानस' म एक श्रेष्ठ लोकरक्षक, आदश मर्यादा पालक, महान राष्ट्र नायक के रूप म जो श्री रामचन्द्र जी का चरित्र प्रस्तुत किया है उस देखकर जीवन विषयक नवीन दृष्टि प्राप्त हो जाती है। महाकवि सूरदास जी न अपनी सरस और मधुर वाणी के माध्यम से कृष्ण भक्ति का जो प्रचार किया वह इतना प्रबल था कि इस कृष्ण प्रेम के सूत्र म विविध धर्मीय तथा विविध श्रेणी की भारतीय जनता पिरोई गई थी। मध्ययुग का यह आन्दोलन आसेतु हिमाचल प्रसारित हुआ था। इस युग मे अनेक छोटे छोटे वैचारिक प्रवाहो का मिलन होने से भारत का राष्ट्रीय तथा जातीय जीवन उज्ज्वलित हो चुका था जिसके फलस्वरूप मानवप्रेम और भारतीय सस्कृति की रक्षा हो गई।

भक्तिकालीन हिंदी काव्य का सूक्ष्म तथा गहराई से अध्ययन करने पर ज्ञात हो जाता है कि सत कवियो ने भी समाजवाद के लगभग सभी सिद्धान्तो का समथन किया है। आधुनिक युग म उत्पन्न किसी 'वाद' का सत-काव्य पर आरोप करना उनके प्रति अन्याय करना है। अत यदि इतना कहा जाय तो अनुचित न होगा कि मानवता प्रेम जागत करने तथा मनुष्यो की सुख शान्ति के लिए समाजवाद के द्वारा आज जो प्रयत्न किए जा रहे हैं उसी प्रकार मनुष्यो की ममता के प्रयत्न भक्ति और अध्यात्म के माध्यम से भारतीय सत-कवियो ने किये थे।

कबीर, नानक, दादू, रैदास आदि सत-कवियो ने अत्यन्त स्पष्ट रीति से सामाजिक समता की भावना जागृत करने का प्रयत्न किया। जाति भेद, वर्ण भेद

ही नहीं, वरन धर्म भी उनके मान्य न था। ईश्वरोपासना के समान सर्वव्यापक क्षेत्र में सभी प्रकार के कृत्रिम भेदभाव समूल नष्ट करने के अनेक प्रयत्न अत्यन्त निष्ठा तथा सातत्य से उन्होंने किए। गोस्वामी तुलसीदास, महाकवि सूरदास, मीराबाई आदि सगुणोपासक संत कवियों ने भगवद् गीता जैसे श्रेष्ठ ग्रन्थ का आदर्श समाज के सामने रखा और संदेश दिया कि अपना कर्तव्य पालन करते हुए वर्ण धर्म्य तथा अन्य भेदभाव को महत्त्व देना उचित नहीं है।

संतों ने अपने उपदेशों में सत्य का पुरस्कार असत्य का परित्याग, अहिंसा पालन परमार्थ, स्वार्थ-त्याग, ईश्वर प्रेम आत्म-संतोष, दया उदारता आदि मानव धर्म के लिए पोषक बातों का सबल समर्थन किया। समाज की सुव्यवस्था तथा उन्नति के लिए सत्य का पुरस्कार आवश्यक हो जाता है क्योंकि यह सत्य है कि असत्य की बुनियाद पर खड़ी कोई भी सामाजिक इमारत शाश्वत नहीं रह सकती। 'सत्यमेव जयते' इस महान सिद्धान्त का रहस्य संत कवियों ने अच्छी तरह से जान लिया था। सामाजिक विषमता को दूर करने के लिए उन्होंने सत्य का पुरस्कार किया। सम्भवतः इसीलिए उन्होंने सत्य को ईश्वर का प्रति-स्वरूप मान लिया था। पाखण्ड त्याग, आडम्बर आदिक असत्य पर आधारित सामाजिक प्रथाओं का उन्होंने विरोध किया। धर्म के नाम पर अधर्म, न्याय के नाम पर अन्याय और आचार के नाम पर अनाचार आदि का तत्कालीन समाज में प्रचलन देखकर भक्तिकालीन हिन्दी कवियों ने अपनी रचनाओं के माध्यम से उसके सत्य स्वरूप को अनावृत कर जनता के सम्मुख रखने का महत्त्वपूर्ण कार्य किया।

इन कवियों ने समाज में समता प्रस्थापित करने की इच्छा से लगभग सभी कल्याणकारक उपायों का प्रोत्साहन दिया। सभी संतों के उपदेशों का सार यही है कि हम सब मानव हैं। अतः मानवधर्म का पालन करने में ही हमारी भलाई है। जाति भेद, धर्म भेद, वर्ण भेद आदि जैसी स्वार्थी एवं संकुचित वृत्तियों से समाज दूषित हो जाता है। उसे शुद्ध और निर्मल रखना हमारा कर्तव्य है। सत्य प्रेम अहिंसा, दया, आत्मसंतोष, औदार्य आदि मानवता की पूजा के प्रमुख साधन है। परम्परागत प्रचलित रूढ़ियाँ प्रथाएं यदि कालानुरूप न होंगी तो उनमें परिष्कार करना अथवा परिवर्तन करना हमारा धर्म है। मंदिर में जाकर जड़मूर्ति की पूजा करने की अपेक्षा जीवित मनुष्य प्राणियों की पूजा करना श्रेयस्कर है। मानवता की पूजा का महत्त्व समझाते हुए संत पलटूदास लिखते हैं—

हिन्दू पूजै देवखरा, मुसलमान मसजीद।
पल्टू पूजै बोलता, जो खाय दीद बरदीद॥

मध्ययुग में संत कवियों ने धर्म के माध्यम से मानवता की पार्श्वभूमि पर भारतीय जनता में भावनात्मक ऐक्य निर्माण करने का प्रशंसनीय प्रयत्न किया। आज भी परिवर्तित काल के अनुसार धर्म के स्थान पर राष्ट्र के माध्यम से मानवता की पृष्ठभूमि पर भावनात्मक एकता निर्मिति के प्रयत्नों का होना आवश्यक है।

१७ | हिन्दी साहित्य में उपालम्भ-काव्य

संस्कृत काव्यशास्त्र के अन्तर्गत उपालम्भ शब्द की स्वीकृति 'सखी-कर्म' के अन्तर्गत रही है। सखा के चार कर्मों में इसकी गणना भी की गयी है और हिंदी के नायक नायिका भेद के कुछ आचार्यों ने भी इसको इसी रूप में स्वीकार किया है। नायक को उलाहना देकर उसको नायिका के मनोनुकूल बनाना ही उपालम्भ है। परन्तु काव्य शास्त्र की यह स्वीकृत परिभाषा काव्य की व्यापक अभिव्यक्ति की दृष्टि से अत्यन्त संकुचित है। हिंदी भक्ति-काव्य में व्यापक रूप से और गीति काव्य में परंपरा के रूप में उपालम्भ का महत्त्वपूर्ण स्थान रहा। इस काव्य में मानवीय हृदय की गहरी और मार्मिक अभिव्यक्ति हुई है। वस्तुतः उपालम्भ हमारी विशेष भावस्थिति का परिणाम है जो केवल शृंगार की सीमाओं में नहीं बाँधा जा सकता। इसका मुख्य आधार है सहृदय की सह अनुभूति, गहरी आत्मीयता और प्रेम। प्रेमी अपने प्रेम पात्र से अलग होकर विकल और विह्वल हो जाता है। उसकी मिलन की उत्कंठा तीव्र होकर जब उग्र अभिव्यक्ति करती है तब ऐसी ही मनःस्थिति में प्रेमी किसी सहृदय सहचर या सहचारी को माध्यम बनाकर अपने प्रेमी को उपालम्भ देता है।

शृंगार के वियोग पक्ष में उपालम्भ संयोग की आकांक्षा से अनुगुंजित रहता है। उसमें प्रियका वियोगपूर्व प्रेम व्यापार उसकी निष्ठुरता के रूप में चित्रित किया जाता है पर उसके मूल में प्रेमिका की अपनी सुखद कल्पनाओं की स्मृति अन्तर्निहित रहती है।[1] साथ ही वियोग की परिस्थिति का दोषारोपण प्रिय पर करके मिलन-कामना भी व्यक्त की जाती है। संयोग शृंगार के अन्तर्गत जो उपालम्भ होता है वह मान का एक अंग मात्र होता है। उसमें स्वाभाविक हृदय की वेदना को अभिव्यक्त करने की उतनी गुंजाइश नहीं रहती जितनी वियोग-पक्ष में होती है। वियोग पक्ष में भी उपालम्भ की कई स्थितियाँ होती हैं। विरहजन्य दुख के आवेग में कभी कभी स्वयं नायिका स्वतंत्र रूप में प्रिय को उपालम्भ देकर अपनी वेदना को मुखरित करती है।

---

१ हिंदी साहित्य-कोश—प्रधान संपादक, डा० धीरेन्द्र वर्मा पृष्ठ १३३

परन्तु इस उपालभ में वह स्वाभाविक तन्मयता और आशा निराशा का स्पदन नहीं रहता जो सदेश-काव्य में रूप में पाया जाता है। स्वगत रूप में अभिव्यक्त उपालभ जब कभी प्रिय के सहचर का आश्रय पाता है तो वह और भी गहन एवं मुखर हो जाता है। हिन्दी साहित्य में ऐसा उपालभ-काव्य विभिन्न रूपों में आज तक की रचनाओं में देखा जा सकता है। वस्तुत हिन्दी उपालभ-काव्य की भावात्मक अभिव्यक्ति का उत्कृष्ट रूप हिंदी के भक्ति काव्य में ही अधिक मात्रा में मिल सकता है। उसमें गोपी राधा आदि के उपालभ के साथ ही कतिपय स्थलों पर यशोदा के मान हृदय का कोमल उपालभ भी मिल जाता है। भक्तों की विनय भावना में यहाँ-वहाँ यह भाव मिलता है।

भक्ति-काव्य के अतर्गत कृष्ण काव्य ही एक ऐसा काव्य है जिसमें उपालभ काव्य की प्रकृति के अनुकूल वातावरण पर्याप्त मात्रा में प्राप्त हो सकता है। उसमें भी कृष्ण के मथुरागमन का प्रसग विशेष अनुकूल है। कृष्ण गोकुल छोड़कर जब मथुरा चले जाते हैं तब गोपियाँ, राधा, गोप यशोदा नद ग्वाल बाल आदि सभी कृष्ण के वियोग में दुखी और व्यथित हो जाते हैं। कृष्ण के पुनरागमन की प्रारंभिक आशाएँ भी जब धीरे धीरे नष्ट हो जाती हैं तब उनकी व्याकुलता अधिक असह्य हो उठती है और परिणामस्वरूप गोपियों की यही विरह वेदना उपालभ के रूप में अभिव्यक्त हो जाती है। ऐसी ही अवस्था में कृष्ण के सहचर उद्धव गोपियों को कृष्ण का सदेश देने तथा समझाने के हेतु गोकुल में आते हैं। अपने प्रियतम के सहचर को पाकर उनकी विरह वेदना मानो मुखर हो उठती है और वे सभी उद्धव को उपलक्ष्य कर कृष्ण को नाना प्रकार से उपालभ देती हैं।[1]

भक्ति काल

भागवत में वर्णित इसी प्रसग विशेष के आधार पर महाकवि सूरदास ने 'भ्रमरगीत' की परपरा प्रस्थापित की जिसका विकास परवर्ती कृष्ण काव्य में दृष्टिगोचर होता है। कृष्ण काव्य में उपालभ काव्य तथा भ्रमरगीत पर्याय रूप में प्रयुक्त हुए हैं। हिंदी साहित्य में सर्वप्रथम अभिनव जयदेव विद्यापति की कोमलकांत पदावली में राधा का कृष्ण के प्रति उद्वेगपूर्ण उपालभ पाया जाता है जिसमें राधा की यौवनोद्वेलित विकलता का आवेग भी निहित है। परंतु उपालभ काव्य की इस प्रणाली की परपरा सूरदास ने ही स्थापित की। सूर की गोपियों के उपालभ की अभिव्यक्तियाँ भी दो प्रकार से पायी जाती हैं। पहली अभिव्यक्ति स्वगत रूप में पायी जाती है जिसमें कृष्ण के न आने पर उसकी निष्ठुरता आदि के विषय में व्यथित हृदय की प्रतिक्रिया मात्र है। कृष्ण के सखा उद्धव जब गोपियों को प्रेमपथ के स्थान पर निर्गुणपथ को ग्रहण करने का सदेश देते हैं तब उनकी विरह वेदना अधिक ही तीव्र

[1] श्रीमदभागवत दशमस्कध, पूर्वार्ध अध्याय ४६ ४७

होती है और फलस्वरूप उत्तर के रूप मे उपालभ व्यग के साथ अभिव्यक्त तथा मुखरित होता है। उपालम के द्वितीय पक्ष की भावना को ही हिंदी के परवर्ती कृष्ण-कवियो ने अपनी अभिरुचि तथा समकालीन परिस्थिति के अनुरूप व्यक्त करने का प्रयत्न किया । इस लख मे इसी परपरा का सिंहावलोकन मात्र हो सकेगा ।

सूर सागर के मथन म प्राप्त नवनीत सदृश 'भ्रमरगीत' का हिंदी साहित्य म अपना विशेष स्थान है। सूर ने अपने भाव जगत की पष्ठभूमि पर अपनी प्रतिभा तथा कौशल की तूलिका स विरहजन्य भावियो की भावनाओ तथा मनोदशाओ के विविध चित्र खींचे हैं। 'भ्रमरगीत' का प्रारभ भी अत्यन्त नाटकीय एव मनोवैज्ञानिक है। भाव क मन म जीवन की व्यावहारिक बातो का समझन उद्धव न जान सकेंगे और सीधे युवती गोपियो से मिलकर सदेश देगे तो लोकाचार की दृष्टि से वह असगत होगा तथा फलस्वरूप उनके उद्देश्य की पूर्ति भी न हो सकेगी, इसलिए प्रारम्भ ही म कृष्ण उन्हे लोकाचार की रीति समझाते हुए कहते हैं—

पहले करि परनाम न न्दसो समाचार सब दीजो।[1]

इस प्रकार लोकाचार समझाने क पश्चात व अपना सदेश उद्धव स कह देते हैं। इसा क बाद कुब्जा के विशेष सदेश की भी योजना की गयी है जिससे गोपियो क हृदय मे स्त्री सुलभ ईर्ष्या की भावना का उदय होकर उनकी विरह व्यथा तीव्रतर हो जाती है। मथुरा की दिशा से आने वाले रथ को देखकर गोपियो की आशा अकुरित हो जाती है और जब रथ म आसीन व्यक्ति के कृष्ण सदृश वण तथा वस्त्र को देखा जाता है तब उन्हे निश्चय हो जाता है कि उनके प्रियतम कृष्ण ही आ रहे हाग। परन्तु उद्धव के पहुचते ही यह सुख-स्वप्न अग-सा हो जाता है। कृष्ण न सही लेकिन कृष्ण सखा कृष्ण का सदेश ले आया है इस कल्पना न उनके अपना भग के दुख को सँवारा। अघ्य, आरती, तिलक, परिक्रमा आदि स उद्धव का प्रेम पूर्वक सत्कार किया जाता है। नन्द के आगन म लगी हुई सभा म कृष्ण द्वारा प्रेषित पाती जब उद्धव देते हैं तब—

पाती बाँचि न आवई, रहे नयन जलपूरि।
प्रेम देखो गोपिन को, ग्यान गरब गयो दूरि।[2]

जैसी अवस्था हो जाती है। दो ही पक्तियो म कितना भाव अभिव्यक्त हो जाता है। उसके बाद उद्धव कृष्ण-सन्देश सुनाते हैं—

सुनु गोपी हरि को सदेस।
करि समाधि अतरगत चितवो प्रभुको यह उपदेस,
वे अविगत अविनासी पूरन घट घट रहे समाय।

---

१ भ्रमरगीत सार—स० रामचद्र शुक्ल, पदसख्या १
२ वही, पदसख्या १७

तिहि निहचय क ध्यावहु ऐसे सुचित कमल मन लाय,
यह उपाय करि विरह तजोगी मिलै ब्रह्म तब आप ।[1]

अपेक्षा के प्रतिकूल यह सदेश सुनकर गोपियो को सीमातीत आश्चर्य ही होता है। उन्हे विश्वास नही होता कि यह विचित्र सदेश कृष्ण का ही है। उनका मन सभ्रमित होकर तक करने लग जाता है और अन्त म व अनुमान करती हैं कि यदि सचमुच ही उद्धव कृष्ण का सदेश लेकर आय होग तो अवश्य ही उन्होने कृष्ण सदेश का ठीक म सुना होगा। अत आत्मविश्वास के साथ बडी ही निर्भीकता स गोपियाँ उद्धव से कहती हैं—

ऊधो जाय बहुरि सुनि आवहु कह्यो है नदकुमार।
यह न होय उपदेस स्यामको कहत लगावत द्वार ॥
निर्गुन ज्योति कहाँ उन पाइ सिखवत बार बार।
कालिह करत हुते हमरे अग अपने हाथ सिगार ॥[2]

इसी बीच म कोई भ्रमर वहाँ आता है जिसे सबोधन कर उद्धव को तथा कृष्ण को अनेक उपालभ दिये जाते हैं, जो कटुता म मधुर और सीमा म व्यापक हैं। इन उपालभो में सभवत एकाध ही उपालभ का तरीका बचा होगा जिसे स्त्रियाँ प्रयुक्त किया करती हैं। इसी के द्वारा सगुणोपासना अर्थात प्रेमपक्ष का मडन तथा निर्गुणोपासना अर्थात ज्ञान पक्ष का खडन भी बडी कुशलता से कराया गया है। गोपियो के इन उपालभो के अन्तगत कुब्जा के प्रति सूक्ष्म डाहभाव कृष्ण की भ्रमर वृत्ति उनका अपना विरह जन्य दुख आदि का वणन व्यग तक कटाक्ष, उपहास आदि के द्वारा किया गया है। गोपियो के कुछ उपालभ द्रष्टव्य हैं।

स्याम सो काहे की पहचान ?
निमिष निमिष वह रूप न वह छवि रति कीजै जेहि जान।

× × ×

ऊधो हम अजानि मति भोरि
जानति हैं ते जोगकी बातें नागरि नवल किसोरी।

× × ×

ऊधो ! ते कि चतुर पर पावन ?
जे नहिं जान पीर पराइ है सबज्ञ कहावत।

× × ×

काहको गोपीनाथ कहावत ?
रापनेकी पहचानि जाति क हमहिं कलक लगावत ?

---

१ भ्रमरगीत-सार—स० रामचन्द्र शुक्ल, पदसख्या १६८
२ वही पदसख्या २१७

बस यें कुब्जा मनो कियो ।
सुनि सुनि समाचार ऊधो मो कछुक सिरात हियो ।
× × ×
ए अलि ! कहा जोगमे नीको ?
तजि रसरीति नदनदनकी, सिखवत निर्गुन फीको ?
× × ×
मधुकर स्याम हमारे चोर ।
मन हरि लियो माधुरी मूरति, चित नयन की कोर ।[1]

'भ्रमरगीत' के अतगत ऐसे कई उपालभ मिलते हैं, जो सूरदास की काव्य प्रतिभा तथा कौशल के परिचायक हैं। अन्त मे ज्ञानपक्ष पर प्रेमपक्ष की विजय दिखा कर उद्धव का गर्व हरण किया है। भागवत के दशमस्कंध के एक अध्याय के कुछ ही छदो से कल्पना तथा प्रेरणा लेकर महाकवि सूरदास ने उसका जो काव्य वितान तना किया उससे उनकी मौलिकता स्पष्टत देखी जा सकती है। सूर शब्द के जौहरी थे, अत काव्य वितान को सुशोभित करने के लिए प्रसगानुकूल मृदु या कठोर शब्दो का चयन उन्होने किया जिससे उपालभ काव्य व्यजना तथा लक्षणा शक्तियो से अधिक सबल एव परिपुष्ट किया गया।

सूरदास जी के पश्चात उपालभ-काव्य की परम्परा मे विशेष उल्लेखनीय खड काव्य है अष्टछाप के कृष्णकवि नददास का जो 'भँवर-गीत' नाम से प्रसिद्ध है। नददास के भँवर गीत के आरम्भ म किसी प्रकार की कोई वदना नही है और सूर के समान कृष्ण द्वारा उद्धव को भेजा भी नही जाता। सीधे 'ऊधो को उपदेश सुनो व्रज नागरी" कहकर कवि अपना आचार्यत्व दिखाने में उत्सुक है। फिर भी स्त्रियो के स्वभावानुसार प्रारम्भ मे गोपियो की रूप प्रशसा कर अपने योग्य भूमिका तयार करने का चातुर्य नद-दास न दिखाया है। नन्ददास के भँवर गीत का आधा विभाग गोपी उद्धव सवाद से पूरित है और शेष विभाग म गोपियो की विरहदशा वर्णित है। प्रथम विभाग उपालभ के लिए पोषक है। इनकी गोपियाँ सूर की गोपियो से अधिक बुद्धिमती हैं। अत स्वभावत उनके उपालभो म तर्क की मात्रा अधिक है। वे उद्धव की हर बात का उत्तर अत्यन्त तर्कपूर्ण, बुद्धि-सगत एव चतुराई से देती हैं—

जो मुख नाहिन हुतो कहो किन माखन खायो
पायन बिन गो सग कहो बन बन को धायो[2] !

इसी तर्क वितर्क मे स्मृति के आधिक्य से गोपियाँ कभी कभी 'हा करुणामय नाथ हो, केशव, कृष्ण, मुरारि, फाटि हियरो चल्यो' कहकर बेहोश हो जाती हैं। इस

---

१ भ्रमरगीत सार—स० रामचद्र शुक्ल पद सख्या ११६, २१६, ४५ ३६ २६ १४६

२ नददास कृत भँवरगीत—सपादक विश्वम्भरनाथ मेहरोत्रा पद सख्या १०

उपालभ मे परवशता, दीनता, विनय और प्रेम आदि बातें इतनी उत्कट हैं कि स्वय उद्धव भी इसके सामने हार जाते हैं। गोपियो की मानसिक दशाओ का सूर की तरह स्वाभाविक वर्णन इसमे नही पाया जाता। 'भँवर गीत' मे दार्शनिक पक्ष ही अधिक प्रबल है। गीता मे प्रयुक्त ब्रजभाषा काटे हुए रत्नो के समान सुन्दर है परन्तु सूर की भांति स्वाभाविक नही लगती। इसमे सगीतप्रियता एव व्यग्यात्मकता द्रष्टव्य है।

भक्तिकाल मे सूरदास, नददास के सिवा तुलसीदास, परमानन्द दास, रहीम आदि अन्य भक्त-कवियो ने अपनी कृष्ण विषयक रचनाओ मे प्रसग के रूप मे भ्रमरगीत उपालभ कथा का प्रयोग किया है। ऐसी फुटकल रचनाओ मे भी उपालभ काव्य की विभिन्न छटाएँ दिखायी देती हैं। कृष्ण गीतावली के अतर्गत तुलसी ने भी इस प्रसग को छेड दिया है। तुलसीदास के स्वभाव का प्रभाव गोपियो पर भी दिखायी देता है। तुलसी की गोपियाँ सयमशील, अधविश्वासी, मर्यादावादी पतिपरायणा नारियाँ, गभीरता की मूर्तियाँ हैं। ऐसी गोपियो के उपालभो मे वह तीखापन, व्यजना तर्कवादिता कैसे सभव है? इनके उद्धव भी बडे शात हैं। कृष्णभक्त परमानददास ने अपने 'परमानद सागर' मे इसी प्रसग को फुटकल पदो मे व्यक्त किया है। इनकी गोपियाँ अत्यन्त भोली भाली होते हुए भी कृष्ण प्रेम की दृढता के कारण उद्धव की बातो को स्वीकार नही करती। वदना, खिन्न, मान आदि हृदय मे होते हुए भी विरह व्यथा के भार से उनकी प्रवृत्ति अतर्मुखी हो गयी है। उनकी उक्तियो मे तुलसी की गभीरता है। रहीम ने अपनी फुटकल रचनाओ मे गोपियो की विरह व्यथा एव मर्मस्पर्शी एव व्यापक वर्णन किया है। रहीम की गोपियाँ सहजमुग्धा हैं जो अपने प्रियतम कृष्ण को दोष नही देती वरन स्वय ही पछताती हैं कि हमने व्यर्थ ही उनसे प्रेम किया —

> घेर रह्यो दिन रतियाँ बिरह बलाय।
> मोहन की वतियाँ ऊधौ हाय।[1]

मुग्धावस्था के कारण ही वे उद्धव का उपदेश नही मान सकतीं, अपितु वे कृष्ण के निष्ठुर व्यवहार को ससार के अनुकूल ही मानते हुए कहती हैं —

> कहा काहू से कहनो, सब जग साखि।
> कौन होत काहू के, कुबरी राखि।।[2]

बरवै जैसे छोटे छन्द मे भी कितना व्यापक भाव पूरित है! इनसे रहीम की मौलिकता, सहृदयता तथा मर्मज्ञता के दर्शन होते हैं।

रीतिकाल

भक्तिकाल मे निर्मित उपालभ-काव्य की परपरा तथा भ्रमरगीत के प्रसग रीतिकालीन काव्य में भी देखे जा सकते हैं। रसनायक रसरासो, ग्वाल, मतिराम

---

१ रहीम रत्नावली—सपादक मायाशकर याज्ञिक, पद सख्या ४७

२ वही पद स० ८४

देव, पदमाकर, दास, घनानंद, सेनापति आदि कवियों ने अपने अपने काव्य के अन्तगत इस प्रसंग विशेष का वर्णन कर उपालंभ-काव्य की परंपरा को प्रवाहित अवश्य किया है। मतिराम ने इस प्रसंग को अलंकारों के उदाहरण स्वरूप लिखा। फिर भी विशेषता यह रही है कि उसमें भाव-सौंदर्य को क्षति नहीं पहुँची। वे पूववर्ती भक्ति-काव्य के रचयिताओं के समान सगुण निर्गुण के संघर्ष में नहीं पड़े। इसके संबंध में मतिराम ने गोपियों के मुख से तो इतना ही कहा कि हम तो—

पगी प्रेम नंदलाल के, हमहिं न भावत जोग।
मधुप, राज-पद पायकैं भीख न मांगत लोग ॥[१]

इस उपालंभ में कितना तीखापन, कितनी तीव्रता तथा मार्मिकता व्याप्त है! मतिराम के उपालंभ बड़े ही सरस, हृदयस्पर्शी एवं मधुर हैं। मतिराम की भांति महाकवि देव ने भी भ्रमरगीत विषयक स्वतंत्र रचना नहीं की। इन्होंने गोपियों की मानसिक अवस्था का अतीव सुंदर चित्रण किया है। तन्मयता एवं विरह की तीव्रता भी दर्शनीय है—

उद्धव आये उद्धव आये हरि को संदेस लाये,
सुनि गोपी गोप धाए, धीर न धरत हैं ॥[२]

देव की गोपियों पर रीतिकालीन प्रभाव स्पष्ट रूप से दिखायी पड़ता है। वे एक ओर कामातुर भी हैं और दूसरी ओर विरह-ताप से विवश भी। अपने प्रियतम को प्रसन्न करने के लिए चाहे जिस मार्ग का अवलंब करने को वे तैयार रहती हैं। फिर भी उपालंभ देने में पटु दिखायी देती हैं। सूर के समान वे भी उद्धव से कहती हैं कि हे उद्धव तुम देर से आये हो अन्यथा हम प्रेम मार्ग को छोड़कर ज्ञान मार्ग ही ग्रहण करतीं। कुब्जा को उन्होंने जो उपालंभ दिया वह देखकर उनकी उपालंभ-पटुता का सहज ही परिचय हो आता है—

कूबरी सी अति सूधीवधू को
मिल्यो बर, देव ज्यूं स्याम सों सूधो।

इस तरह देव की गोपियां सरल अभिव्यक्ति को छोड़कर अत्यंत तिक्त, कटु तथा मार्मिक व्यंग बाणावली का प्रयोग करती हैं। कहीं कहीं ऐसा प्रतीत होने लगता है कि मानो वे उद्धव का उपहास करने के लिए ही कटिबद्ध हैं और बेचारे उद्धव निरुत्तर होने के कारण चुपचाप खड़े हैं। कुछ आलोचकों के मतानुसार रीतिकालीन उपालंभ काव्य में सरसता की दृष्टि से देव ही श्रेष्ठ हैं। पद्माकर की गोपियां विरह से अत्यंत पीड़ित हैं। प्रकृति का उद्दीपन रूप देखकर उनकी विरहव्यथा अधिक ही बढ़ती है। इन्होंने मतिराम की तरह अलंकारों के उदाहरण स्वरूप काव्य रचना की।

१ मतिराम ग्रंथावली (सतसई)—संपादक कृष्णविहारी मिश्र, पद संख्या ४७०
२ देव सुधा—मिश्रबंधु, पद-संख्या २२५

इनकी गोपियाँ भी बुद्धिमती हैं अत उनके उपालभो म करारापन, तार्किकता आदि स्वाभाविक बातें आ जाती हैं। दास कवि ने भी उपालभ-काव्य प्रणाली का अनुसरण किया परतु उनके काव्य म बुद्धितत्त्व का प्राधान्य, अलकारो का प्राचुर्य आदि के कारण नीरसता आ गयी है। घनानद ने भी अपने मुक्तक काव्यों मे इस प्रसग का वर्णन किया है। उनके उपालभ म मधुरता, मार्मिकता एव वाणी का विलास दृष्टिगोचर होता है। इसी प्रकार सेनापति, भिखारीदास आदि बहुत-से रीतिकालीन कवियो ने कम अधिक प्रमाण म उपालभ-काव्य लिखा है।

आधुनिक काल

आधुनिक काल म पाश्चात्य साहित्य के सपर्क से तथा अनेक वैज्ञानिक आविष्कारो से जनमानस की स्थिति म काफी अन्तर हुआ। राष्ट्रीयता की प्रवृत्ति बढ़ने लगी और जीवन से साहित्य का सपर्क अधिक होने से साहित्य का क्षितिज और भी विस्तृत हुआ। उपालभ परम्परा के काव्य का चरमोत्कर्ष 'रत्नाकर' कवि के 'उद्धव शतक' म इसी काल में हुआ। जगन्नाथदास रत्नाकर को ब्रजभाषा के अन्तिम कवि माना जाता है। एक दृष्टि से यह कथन उचित भी है क्योंकि उनके अनन्तर यद्यपि ब्रजभाषा म यत्र-तत्र रचनाएँ हुई भी हों तो भी खड़ी बोली काव्य का ही प्रभाव अधिक रहा। उद्धव शतक म रत्नाकर जी ने प्रारभ ही म कृष्ण विरह की व्यजना कर अब तक के भ्रमरगीत परपरा के काव्यो की त्रुटियो की मानो पूर्ति कर दी है। उनकी शैली अभिनयात्मक एव कथोपकथन प्रधान होने से काव्य म नाटकीय

विचित्र प्रकार की सरलता, स्वाभाविकता तथा स्त्रियोचित अल्पनता की मनोरम माधुरी है[1] —

जग सपनो सो सब परत दिखायो तुम्हें।
ताते तुम ऊधौ हम सोवत लखात हौं।[2]

× × ×

यह वह सिंधु नहिं सोखि जो अगस्त लियौ,
ऊधौ यह गोपिनि के प्रेम कौ प्रवाह है।।[3]

मधुर भाषा, विशेषमता, अभिव्यजना-सौष्ठव, वहुघता, मनोवैज्ञानिकता आदि गुणो के कारण उद्धव शतक अत्यन्त लोकप्रिय एव श्रेष्ठ काव्य माना जाता है। कवि रत्नाकर के पश्चात इसी परपरा के अन्तगत स्वतत्र रचना हुई है सत्यनारायण 'कवि रत्न' की अपने पूववर्ती उपालम्भ काव्यो से सवथा भिन्न और नवीन, 'भ्रमरदूत'।

सत्यनारायण 'कविरत्न' न परपरागत उपालभ प्रणाली को अपनाते हुए भी नता तथा विचारा म पयाप्त अन्तर रखा है। सभवत राष्ट्रीय जागरण की साव-दशिक विचार धारा का वह प्रभाव होगा। इनके शीपक मे पूव कवियो के अनुसार भ्रमर' तो है परतु गीत' के स्थान पर 'दूत' की योजना है। भ्रमरदूत' शीपक से कवि की विचार धारा की कल्पना नही आती। परतु काव्य को पढने पर कवि का उद्देश्य स्पष्ट होता है। व दावन मे यशोदा का विलाप तथा दु ख देखकर भ्रमर कृष्ण क पास जाता है और कृष्ण विरह से हुई वृन्दावन की दयनीय दशा का चित्र उपस्थित करता है जिसके माध्यम से कवि तत्कालीन परतत्र भारत की दयनीय दशा की ओर सकेत करना चाहता है। वतमान युग की राष्ट्रीय विचार धारा, देश प्रेम, नारी शिक्षा आदि का प्रतिबिंब 'भ्रमरदूत' मे स्पष्ट है। इसम गोपियो तथा उद्धव के बीच वार्ता-लाप नही है तथा सगुण निगु ण की चर्चा भी नही है। कृष्ण के वात्सल्य रूप का ही अधिक वणन है। इसम उपालभ के लिए गु जाइश वसे कम ही है। यशोदा अपनी निरक्षरता पर पछता रही है—

पढी न अक्षर एक ग्यान सपने न पायो
दूध दही चाटत में, सबसे समय गमायो।

इन दो स्वतत्र रचनाओ के साथ-साथ वतमानकालीन अन्य कृष्ण विषयक काव्यो म कम अधिक प्रमाण म इसी प्रसग एव परपरा शली का प्रयोग पाया जाता है। भारतेंदु हरिश्चद्र हरिऔध मथिलीशरण गुप्त, अमनलाल चतुर्वेदी, सत्यनारायण पाड, डा० रमाशकर शुक्ल आदि कवियो के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। भारतेंदु की

१ उद्धव शतक (प्राक्कथन) — रामशकर शुक्ल प० ३३
२ उद्धव शतक — रत्नाकर, प० ५०
३ वही, प० ६६

गोपियाँ एक ओर उद्धव की योग साधना को स्वीकार करना नहीं चाहती तो दूसरी ओर प्रियतम की आज्ञा का उल्लंघन भी करना नहीं चाहती। वे हृदय में दुविधा जनक स्थिति उत्पन्न हो जाने से बड़ी ही व्याकुलता से कह उठती हैं—

हरि संग भोग कियो जा तनसों, तासो कैसे जोग करे ?
जा शरीर हरि-संग लिपटानि, ता पै कैसे भस्म धरै ?[1]

एक ओर कृष्ण की आज्ञा को शिरोधार्य करने के उद्देश्य से अनिच्छा से भी क्या न हो, वे उद्धव की बातें मानने को तैयार सी दिखायी देती हैं तो शीघ्र ही कृष्ण क्रीड़ा की मधुर स्मृति से व्याकुल होकर असहाय सी दीख पड़ती हैं। इन्होंने अन्त में उद्धव के द्वारा जो सन्देश भेजा है वह बड़ा ही करुण एवं मर्मस्पर्शी है। गोपियों के कृष्ण के प्रति जो उपालम्भ हैं उनमें तिक्तता की मात्रा यदि कम हो तो अस्वाभाविक ही क्या है ?

खड़ी बोली में प्रथम महाकाव्य के रचयिता अयोध्यासिंह उपाध्याय ने अपने 'प्रिय प्रवास' नामक महाकाव्य के अंतर्गत उपालम्भ काव्य का प्रयोग किया है। व्रज की गोपियाँ उद्धव का स्वागत करते हुए आपस में बातें करती हैं—

वह परम अनूठा कृष्ण को ले गया था।
अब यह व्रज आया कौन सा रत्न लेने ॥[2]

अप्रत्यक्ष रीति से किए गए इस व्यंग्योक्तिपूर्ण उपालम्भ में कितना गहरा भाव भरा है! इनकी गोपियों के तर्क शुद्ध मनोवैज्ञानिक एवं शास्त्रीय आधार पर किए गए ज्ञात होते हैं। गोपियों के विरह में आसक्ता व्याकुलता एवं तड़पन तो है ही परन्तु मूल में सामाजिक कल्याण की भावना भी निहित है। राष्ट्रीय भावना के दर्शन यहाँ भी होते हैं। 'द्वापर' के अन्तर्गत गोपी तथा उद्धव सर्गों में मैथिलीशरण गुप्त ने इस प्रसंग को अभिव्यक्त किया है। इनकी गोपियाँ जितनी भावुक तथा प्रेम विह्वल हैं उतनी ही बुद्धिचतुर एवं सजग हैं। [illegible] में निराकार एवं [illegible] का स्वर माध्यम से मुखरित किया गया है। मैथिलीशरण जी की गोपियों के उपालम्भों में व्यंग्य चातुरी का उत्तम परिचय मिलता है—

मानो हो तुम किन्तु मानव तो अपना-अपना होगा।
[illegible] भी बस चल न पाता यदि अधिकारी धाता ॥

× × ×

माधव भी सत्य हैं सखियो उद्धव भी सत्य हैं।
हाय ! हमारे प्राण-प्राण ही भ्रम हैं [illegible] हैं ॥[3]

---

१ भारतेन्दु-ग्रन्थावली भा० २ (प्रेमफुलवारी) पद संख्या २८
२ प्रिय प्रवास नवम सर्ग, पद १३२
३ द्वापर—मैथिलीशरण गुप्त (चतुर्थावृत्ति) पृ० १८३ तथा २००

भागवत जसे पौराणिक काव्य से लेकर आज तक के काव्य मे उपालभ की यह प्रणाली प्रचलित रही है। साहित्य कृति पर तत्कालीन परिस्थितिया का प्रभाव प्रत्यक्ष वा अप्रत्यक्ष रूप म पडता है। अत विभिन्न युगों मे तत्कालीन परिस्थिति का प्रभाव उपालभ काव्य प्रणाली पर भी स्वभावत हुआ। भक्तिकालीन काव्य मे भावपक्ष की प्रचुरता है तो रीतिकालीन काव्य पर कलापक्ष की ' आधुनिक युगीन काव्य मे बचारिक एव मनोवैज्ञानिक प्रभाव परिलक्षित होता है। युग की प्रवत्तियो के अनुसार उपालभ म अ तर अवश्य होता रहा यद्यपि मूल तत्व म परिवतन तथा भ्रमरगीत की कथावस्तु एव उपालभ की शैली का आकषण हिंदी कवियो म जबरदस्त था। इसीलिए आज तक के कवियो म उस शैली का प्रयोग करन का आकषण बना हुआ है।

१८ | काव्य की आत्मा : भारतीय विचार-प्रवाह

भारतीय साहित्य शास्त्रियों ने काव्यशास्त्र का विवेचन करते हुए उसके विविध अंगोपांगों का विचार किया है। काव्य का अध्ययन करने के लिए काव्य की आत्मा को समझना अत्यावश्यक है। काव्य की आत्मा की जिज्ञासा से पहले हम उसके स्वरूप का निर्धारण करना आवश्यक होगा। शब्द और अर्थ दोनों काव्य के शरीर माने गये हैं। ये दोनों अभिन्न हैं, एक के बिना दूसरे की सत्ता असंभव है। शरीर के बिना आत्मा का अस्तित्व प्रमाणित करना दार्शनिक शास्त्रियों के लिए भले ही संगत हो परन्तु आत्मा के बिना शृंगार की आलंबन-स्वरूपा लालित्य लावण्यमयी ललनाओं के कोमल कान्त कमनीय कलेवर भी हेय और त्याज्य हैं। आत्मा ही के कारण शरीर का महत्त्व है नहीं तो निष्प्राण शरीर भले ही वह अतीव सुन्दर ही क्यों न हो किस काम का? इसलिए भारतीय आचार्यों ने काव्य की आत्मा को विशेष रूप से अपनी मनीषा और समीक्षा का विषय बनाया है।

कविकर्म के दो पक्ष होते हैं। प्रथम पक्ष है विषय विशेष का अनुभव करना जिसे आन्तरिक गुण होने से अनुभूति या भावपक्ष माना जाता है। दूसरा पक्ष है उस विषय विशेष के अनुभव को सुचारु एवं सुव्यवस्थित रूप में अभिव्यक्त करना जिसे बाह्यगुण होने से अभिव्यक्ति या कलापक्ष माना जाता है। साधारणतः इन्हीं दो पक्षों के आधार पर आचार्यों ने काव्य की आत्मा विषयक अपने मतों का प्रतिपादन किया है। काव्य के विभिन्न अंगों में से ही किसी एक पर बल देकर उसी को काव्य की आत्मा निर्धारित करने का प्रयत्न किया गया। भरतमुनि से लेकर पण्डितराज जगन्नाथ तक लगभग दो हजार वर्षों के समय में इस विषय को लेकर मुख्यतः पाँच सम्प्रदायों के नाम विशेष उल्लेखनीय रहे हैं। वे इस प्रकार हैं—

सम्प्रदाय	प्रवर्तक आचार्य
१ अलंकार सम्प्रदाय	दण्डी, भामह, रुद्रट, उद्भट आदि
२ वक्रोक्ति सम्प्रदाय	आचार्य कुन्तक
३ रीति सम्प्रदाय	वामन

४ ध्वनि सम्प्रदाय — आनन्दवर्धन
५ रस सम्प्रदाय — भरतमुनि, विश्वनाथ

१ अलंकार सम्प्रदाय

इस सम्प्रदाय के प्रवर्तक तथा समर्थक आचार्य भामह, दण्डी, उद्भट, रुद्रट आदि माने जाते हैं। इस सम्प्रदाय के पहले विरोधी आचार्य भामह थे। उन्होंने अलंकार को ही काव्य की आत्मा मानते हुए कहा कि जिस प्रकार कोई नारी चाहे जितनी भी सुन्दर हो, यदि वह अलंकार विहीन है तो शोभा सपन्न नहीं हो सकती, उसी प्रकार काव्य में चाहे जितने भी गुण हों यदि उसमें अलंकारों की योजना नहीं है तो वह काव्य आह्लादकारी नहीं हो सकता—

न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनिता मुखम्।

आचार्य दण्डी ने भी अलंकारों को काव्य की शोभा के कारण बताते हुए कहा—

काव्यशोभाकरान् धर्मान् अलंकारान् प्रचक्षते।

चन्द्रालोककार आचार्य जयदेव ने तो यहाँ तक कहा कि जो आचार्य यह मानते हैं कि अनलंकृत भी काव्य हो सकता है तो वे यह क्यों नहीं मानते कि अग्नि भी उष्णता रहित हो सकती है—

अंगी करोति यः काव्यम् शब्दार्थावनलंकृती।
असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलं कृती।

अर्थात् उष्णतारहित अग्नि की जिस प्रकार कल्पना तक नहीं की जा सकती उसी प्रकार अलंकाररहित काव्य की कल्पना भी संभवनीय नहीं। उष्णता तो अग्नि का प्रधान धर्म है, उसी के कारण तो अग्नि की महत्ता मानी जाती है। यदि उष्णता ही न हो तो अग्नि की सत्ता का मूल्य ही क्या रहेगा? उसी प्रकार अलंकार के कारण ही काव्य का महत्व है। यदि काव्य में अलंकार ही न हो तो काव्य की सत्ता ही क्या रहेगी? रस सम्प्रदाय के समर्थक आचार्य विश्वनाथ ने भी अलंकार के महत्व को मानते हुए अलंकारों को रस के उत्कर्ष विधायक माना है —

रसादीनुपकुर्वन्तोऽलंकारास्तेऽङ्गदादिवत्।

दण्डी के परवर्ती आचार्य उद्भट ने अलंकार सम्प्रदाय को अधिक समृद्ध बनाया। आचार्य रुद्रट ने रसों को स्पष्ट रूप से अलंकारों की दासता से मुक्त करते हुए परस्पर विरोधी सिद्धान्तों को समन्वित करने का स्तुत्य प्रयत्न किया।

हिंदी साहित्य के आचार्यों पर इस सम्प्रदाय का उतना अधिक प्रभाव नहीं दिखायी देता। रीतिकाल के आचार्य केशवदास ने इस अलंकार सम्प्रदाय से प्रभावित होकर कविप्रिया जैसे ग्रंथ का निर्माण किया। उन्होंने भी अन्य अलंकारवादी आचार्यों की तरह अलंकार को काव्य की आत्मा मानते हुए कहा—

जदपि सुजाति सुलच्छनी, सुबरन सरस सुवृत्त।
भूषण बिनु न विराजई कविता, वनिता, मित्त॥

अलंकारों को काव्य की आत्मा स्वीकार करते हुए भी इस सम्प्रदाय के अधिकांश आचार्यों ने रस की महत्ता को अस्वीकृत नहीं किया। उन्होंने रस का अन्तर्भाव रसवत अलंकारों में किया और रसवत, प्रेय उर्जस्वित तथा समाहित इन चार अलंकारों में विधान किया। अलंकारों का महत्त्व स्वीकार करते हुए भी उन्हें मूल पदार्थ का स्थान नहीं दिया जा सकता। अलंकार साधन हो सकते हैं पर साध्य नहीं और अलंकार ही तो सब कुछ नहीं हो सकते। काव्य में अलंकार के चमत्कार से ही काव्य का प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। इसके लिए रस आदि का होना भी आवश्यक है। अलंकार सम्प्रदाय के पोषक आचार्य रुद्रट ने भी काव्य में रस का होना अत्यन्त आवश्यक मानते हुए कहा है—

तस्मात्तत्कर्तव्यं यत्नेन महीयसा रसैर्युक्तम्।

इसलिए अलंकारों का काव्य में विशिष्ट स्थान होते हुए भी उन्हें काव्य की आत्मा मानना उचित न होगा।

२ वक्रोक्ति सम्प्रदाय

इस सम्प्रदाय के प्रतिष्ठापक आचार्य कुन्तक हैं। यद्यपि कुन्तक से पूर्ववर्ती आचार्यों ने भी वक्रोक्ति का विवेचन किया था परन्तु आचार्य कुन्तक की भाँति उन्होंने वक्रोक्ति को काव्य की आत्मा के रूप में स्वीकार न करते हुए अलंकारों के अन्तर्गत इसका समावेश किया था। अलंकार सम्प्रदाय के संस्थापक आचार्य भामह तथा दण्डी के मतानुसार वक्रोक्ति कथन उस विचित्र शैली का नाम है जो साधारण इतिवृत्त वार्ता से भिन्न हो। आचार्य कुन्तक ने वक्रोक्ति का महत्त्व स्वीकार करते हुए कहा है—

सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलंकारोऽनया विना॥

आचार्य दण्डी ने वाङ्मय के दो भेद करते हुए कहा—

भिन्नं द्विधा स्वभावोक्तिः वक्रोक्तिश्चेति वाङ्मयम्।

रीति सम्प्रदाय के प्रवर्तक आचार्य वामन ने काव्य में वक्रोक्ति स्थान इस प्रकार स्वीकार किया है—

सादृश्याल्लक्षणा वक्रोक्तिः।

परन्तु आचार्य कुन्तक ने अन्य आचार्यों की तरह वक्रोक्ति को कोई अलंकार नहीं माना प्रत्युत अत्यन्त सबल और स्पष्ट शब्दों में वक्रोक्ति को काव्य की आत्मा के रूप में स्वीकार करते हुए कहा—

वक्रोक्तिः काव्यस्य जीवितम्।

वक्रोक्ति की परिभाषा देते हुए आचार्य कुन्तक ने लिखा है कि प्रसिद्ध कथन से विभिन्न अभिधा अर्थात् वर्णन शैली ही वक्रोक्ति है। यह क्या है? वैदग्ध्यपूर्ण शैली द्वारा उक्ति है। वैदग्ध्य का अर्थ है विदग्धता, कवि कर्म कौशल उसकी भंगिमा या शोभा, उसके द्वारा उक्ति। विचित्र अभिधा को वर्णन शैली को ही वक्रोक्ति कहते हैं।

कुंतक ने वक्रता के वियाम वक्रता, पद-पूर्वार्ध वक्रता, पदपरार्ध-वक्रता, वाक्य वक्रता प्रकरण वक्रता और प्रबंध वक्रता आदि अनेक भेद किये हैं।

एक बात विशेष द्रष्टव्य है कि वक्रोक्ति को काव्य की आत्मा मानते हुए भी आचार्य कुंतक द्वारा रस की उपेक्षा नहीं की गयी। इन्होंने केवल रस को भी वक्रोक्ति के साधन रूप में स्वीकार करते हुए आचार्य दंडी आदि की भांति रसवत् अलंकार के अंतर्गत समाविष्ट करके रस का महत्व स्वीकार नहीं किया बल्कि रस को कवियों की वाणी का आधार माना है—

निरंतर रसोद्गार गर्भ सौंदर्य निर्भरा।
गिरः कवीनां जीवन्ति न कथामात्राश्रिता।

इस प्रकार स्पष्ट ही आचार्य कुंतक ने रस का महत्त्व स्वीकार किया है और वह भी पर्याप्त प्रबल शब्दों में। इसलिए वक्रोक्ति को भी काव्य की आत्मा के रूप में स्पष्टतः नहीं स्वीकार किया जा सकता।

३ रीति संप्रदाय

आचार्य वामन को रीति संप्रदाय के संस्थापक माना जाता है। अलंकार संप्रदाय के पश्चात इस संप्रदाय की निर्मिति हुई। वामन ने रस और अलंकार के स्थान पर रीति की स्थापना करके रीति को ही काव्य की आत्मा स्वीकार किया—

रीतिरात्मा काव्यस्य।

रीति का विवेचन करते हुए इन्होंने बताया कि विशिष्ट पद रचना का नाम रीति है—

विशिष्टा पदरचना रीतिः।

और फिर 'विशिष्ट' शब्द का स्पष्टीकरण करते हुए कहा—

विशेषो गुणात्मा।

अर्थात रचना में माधुर्य, प्रसाद और ओज गुणों का समावेश ही उसकी विशेषता है और यही विशेषता रीति कहलाती है। संक्षेप में, वामन के अनुसार गुण-युक्त पद रचना ही काव्य की आत्मा है।

इस संप्रदाय के आचार्यों ने विभिन्न रसों के उपयुक्त गुणों का निर्देश भी किया है। जैसे शृंगार रस के लिए माधुर्य तथा वीर रस के लिए ओज गुण उपयुक्त माना है। इस संप्रदाय में विशेषता गुणों को दी गयी है। काव्य शोभा के कारक धर्म गुण कहलाते हैं—

काव्य शोभायाः कर्तारो धर्मा गुणाः।

इसलिए कतिपय आचार्य इस संप्रदाय को रीति संप्रदाय के स्थान पर गुण संप्रदाय कहना अधिक समीचीन मानते हैं। गुण और रीति दोनों ही अंत में साध्य नहीं रहते बल्कि शोभा के साधन बन जाते हैं। रीति का संबंध गुणों से है और गुणों का संबंध काव्य की आत्मा 'रस' से है। रीति को काव्य की आत्मा के रूप में

उपयुक्त सम्प्रदायों का तुलनात्मक विचार करने पर दिखायी देता है कि प्राय प्रत्येक सम्प्रदाय ने अपने सम्प्रदाय को सर्वश्रेष्ठ मानकर उसका समर्थन किया है। काव्य के बहिरंग और अंतरंग की दृष्टि से सूक्ष्मता से विचार करने पर स्पष्ट हो जाता है कि अलंकार, रीति तथा वक्रोक्ति सम्प्रदाय काव्य के बहिरंग अर्थात कलापक्ष को प्रधानता देते हैं और ध्वनि तथा रस सम्प्रदाय काव्य के अंतरंग अर्थात आत्मपक्ष को प्राधान्य देते हैं। यह मान्य है कि शरीर के सौंदर्य की अपेक्षा आत्मा का अस्तित्व अनिवार्य है। शरीर की विकारावस्था में आत्मा की प्राणवत्ता खंडित नहीं होती, किंतु आत्मा की अनुपस्थिति में शरीर का सौंदर्य नष्ट हो जाता है। इसलिए काव्य के बहिरंगवादी अलंकार रीति तथा वक्रोक्ति सम्प्रदाय काव्य की आत्मा का स्थान नहीं ले सकते। ध्वनि सम्प्रदाय को अनेक विद्वान रस सम्प्रदाय का ही व्यावहारिक रूप मानकर उसे रस के अंतर्गत लेते हैं। रस सम्प्रदाय बहिरंग पक्ष को महत्त्व न देते हुए अंतरंग पक्ष को ही महत्त्व देता है। इसलिए अधिकांश 'विचारक' रस को ही काव्य की आत्मा मानते हैं।

१६ | 'द्वापर' का सामाजिक प्रबोधन

काव्यशास्त्र के आचार्यों ने तथा साहित्य के समीक्षो ने अपनी अपनी धारणाओ के अनुरूप 'साहित्य' की परिभाषाएँ बनायी हैं। किसीने उसे ज्ञान राशिका सचित कोश कहा तो किसी ने जीवन की आलोचना। किसीने प्रगतिशील गतिशील जीवन के लिपिबद्ध व्यक्तीकरण को 'साहित्य' माना तो किसी ने श्रेष्ठतम विचारो की उपयुक्ततम शब्दो म लिपिबद्ध अभिव्यक्ति को। साहित्यकार के एक सामाजिक प्राणी होने से उसके प्राय सभी सस्कार समाज के बीच म ही होते हैं। अत वह अपने विचारों के सूत्र भी स्वभावत वही से प्राप्त कर लेता है। साहित्यकार सामान्य व्यक्तियो से कही अधिक सवेदनशील रहता है। उसे अपनी अनुभूतियो को व्यक्त किए बिना शांति नही मिलती। वह जिस परिस्थिति विशेष म पैदा होता है, सस्करण ग्रहण करता है, उसका प्रभाव प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप म उसकी कृतियो म प्रतिबिंबित होता रहता है। इमीसे कुछ विचारक साहित्य को समाज का प्रतिबिंब अथवा दपण मानते हैं। कुछ आलोचक उसे समाज का छायाचित्र भी मानना उचित समझते हैं। प्रतिबिंब या दपण की अपेक्षा छायाचित्र की उपमा अधिक समीचीन लगती है क्योकि साहित्यकार अपनी साहित्यिक कृतियो मे समाज का चित्र ज्यो-का-त्यो नही रखता बल्कि उसके परिष्कृत रूप का ही अकन करता है। कभी-कभी अपने असाधारण व्यक्तित्व स युग चेतना निर्माण करने वाले साहित्यकार भी होत रहत हैं।

साहित्य और समाज का अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध है। दोनो अन्योन्याश्रयी हैं। समाज के बिना साहित्य जीवित नही रह सकता और साहित्य के बिना समाज उन्नत नही बनता। वास्तविक स्थिति का दिग्दर्शन ही साहित्यकार का लक्ष्य नही होता उसे समाज-सुधारक की भूमिका भी करनी पड़ती है। इतिहास के पृष्ठो को उलट देने से यह ज्ञात होता है कि विभिन्न क्रांतियो के प्रेरक भी किसी राष्ट्र के उत्कृष्ट साहित्य निर्माता ही रहे हैं। उत्तम साहित्यिक अपनी कृतियो के माध्यम से सामाजिक राजनैतिक परिस्थितियो म अपेक्षित परिवतन कराने म समर्थ होता है। वीरगाथा काल म कितने ही हतोत्साहित वीरो को चारण कवियो के साहित्य ने स्फूर्ति तथा विजय प्राप्त करा

दी थी। अनेक कवियों ने वात्सल्य विमुख व्यक्तियों को कर्तव्याभिमुख बना लिया था। नवेली रानी के मोहपाश में बंधे जयपुर नरेश को आँख खोलकर उसे कर्तव्याभिमुख बनाने का कार्य कवि बिहारी ने इस दोहे ने किया था—

नहिं पराग नहिं मधुर मधु, नहिं विकास इहिं काल।
अली कली ही सों बंध्यो, आगे कौन हवाल॥ [1]

मैथिलीशरण गुप्त द्विवेदी-युग के एक श्रेष्ठ कवि माने जाते हैं। महावीरप्रसाद द्विवेदी की प्रेरणा से 'सरस्वती' के द्वारा हिन्दी साहित्य जगत में उनका आगमन हुआ। यह युग राष्ट्रीय चेतना का था। स्वामी दयानन्द के सामाजिक समन्वयमूलक धर्म के प्रचार ने उस प्रवृत्ति को और भी उभारा। १९०५ के बंग भंग आंदोलन ने राष्ट्रीय चेतना की ज्वालाओं में पुनः प्रज्वलित कार्य कर उसे अधिक ही प्रज्वलित किया। उस ज्वाला की आभा में भारतीय समाज जीवन भी उज्ज्वलित-सा होने लगा। राष्ट्रीय तथा सामाजिक क्षेत्रों में क्रांति युक्त विचार धाराएं निर्माण होने लगी थी। इस जागरित वातावरण का प्रभाव मैथिलीशरण जैसे भावुक कवि के काव्य में प्रतिबिंबित हुए बिना कैसे रहता? उनकी 'भारत भारती' समस्त हिन्दी प्रेमियों के कण्ठकी भारती बन गयी थी। बाल्यावस्था समाप्त कर यौवन की देहली पर आने वाली खड़ी बोली को अपनी विविध शैलियों में निर्मित विस्तृत काव्य राशि से शक्तिमान बनाया। उनके काव्य की विचार धारा ने ही उन्हें 'राष्ट्र कवि' की उपाधि से विभूषित किया।

गुप्त जी की समस्त रचना देखकर लगता है कि उन्हें भारतीय जनमानस की अच्छी पहचान थी। युगों से आए हुए धार्मिक संस्कारों में तीव्रता से परिवर्तन होना उतना सरल एवं सहज न था। अतः अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए उन्होंने पौराणिक काव्य क्षेत्र को चुना। उनके अधिकांश काव्य पौराणिक कथावस्तु पर आधारित हैं। यद्यपि उनका शरीर पौराणिक दिखाई देता है फिर भी उनकी आत्मा आधुनिक ही है। उपेक्षितों का अंतरंग अभिव्यक्त करने में गुप्त जी को आशातीत सफलता मिली है। इस दृष्टि से 'साकेत' तथा 'यशोधरा' विशेष उल्लेखनीय हैं। इसके अतिरिक्त जयद्रथ वध, पंचवटी, नहुष, सिद्धराज, शकुंतला, झंकार, द्वापर आदि साधारणतः चालीस ब्यालीस काव्य ग्रंथों का प्रणयन उन्होंने किया। इनमें से कई ग्रंथों में पौराणिक पृष्ठ भूमि पर समकालीन सामाजिक समस्याओं को चित्रित किया है।

'द्वापर' की रचना जिस परिस्थिति में हुई वह लेखक के जीवन में बहुत ही संकल्प विकल्प पूर्ण रही। कभी कभी ऐसी विषम परिस्थितियां ही सर्वोत्कृष्ट काव्य को जन्म देती हैं। ठीक यही बात गुप्त जी के सम्बन्ध में सार्थक हुई। साकेत और यशोधरा को छोड़ शेष सभी ग्रंथों से 'द्वापर' कई दृष्टियों से उत्तम रचना मानी जा सकती है। इसकी शैली भी अन्य रचनाओं से सर्वथा भिन्न है। विविधता में एकता के दर्शन इस काव्य में किए जा सकते हैं। इस काव्य की विशेषता यह है कि प्रत्येक खंड

---

१ बिहारी बोधिनी—संपादक भगवानदीन

अपनी अलग सत्ता रखते हुए भी 'द्वापर' का एक अंग भी रह चुका है। इसकी आत्मनिवेदनपरक शैली में मुक्तक के गुण भी दृष्टिगोचर होते हैं और प्रबंधात्मक ध्वनि भी। एक माला में अनुस्यूत मणियों की सत्ता कुछ सीमा में स्वतंत्र होते हुए भी माला के सूत्र के साथ उनका संबंध अटूट रहता है। प्रायः वही स्थिति 'द्वापर' की शैली की है। कृष्ण प्रेम के सूत्र में राधा, यशोदा, नंद, बलराम, नारद, विधृता, कंस, कुब्जा, उद्धव, गोपी, सुदामा आदि सभी पात्र बंधे हुए दिखायी देते हैं।

अन्य काव्यों की भांति 'द्वापर' का पृष्ठाधार भी पौराणिक कथा ही है। अन्य पौराणिक काव्यों की कथावस्तु की सीमा में मैथिलीशरण गुप्त जी को अपने उन्मुक्त एवं सुधारवादी विचारों को विस्तार से व्यक्त करने की उतनी गुंजाइश न मिली जितनी 'द्वापर' में। संभवतः अपनी इस त्रुटि की पूर्ति करने के उद्देश्य से ही उन्होंने द्वापर के अंतर्गत आत्म निवेदनात्मक शैली की योजना की होगी। यद्यपि 'द्वापर' के सभी पात्र आत्म निवेदन के प्रवाह में प्रसंगानुकूल सामाजिक सुधार के संकेत देते हैं फिर भी उसका वास्तविक उत्कर्ष बलराम, नारद तथा विधृता खंड में ही दिखायी देता है। विशेषतः बलराम खंड को पढ़कर लगता है कि बलराम के माध्यम से स्वयं सामाजिक प्रबोधन देनेवाला साहित्यकार ही झांक रहा है। भारत के पुरुषप्रधान समाज में युगों से प्रताड़ित तथा अपमानित नारी स्वरवाणी 'विधृता' के रूप में साकार हुई है। प्राचीन संस्कारों से नारद विषयक बनी हुई पूर्वग्रह दूषित कल्पना को एक धक्का सा देकर नये रूप में नारद की ओर देखा गया और शांति प्रस्थापित करने के लिए क्रांति की योजना की आवश्यकता का प्रतिपादन किया। परिस्थिति के अनुकूल पांचजन्य के स्थान पर मधुर रसगायिनी 'वेणु' को स्वीकार करने वाले कृष्ण मानो 'परिवर्तन में यदि उन्नति है तो हम भी बढ़ते जाते हैं' का संदेश ही देते हैं।

विनिमय में कुछ न चाहने वाली राधा के आत्मसमर्पण में भारतीय नारी के निःसीम प्रेम तथा औदार्य का दिग्दर्शन कराया है। पूर्ण काम यशोदा के सुखी पारिवारिक जीवन का चित्रण कर मातृ सुख के आनंद को व्यक्त किया है। यदि यशोदा के समान नारियों में औदार्य हो तो समाज के प्रत्येक परिवार में नंदन वन सा निर्माण हो सकता है। ग्वाल बाल के द्वारा बालकों की मित्रतासार निष्कपट, सम भाव की खिलाड़ी प्रवृत्ति का आदर्श सामने रखा। देवकी तथा उग्रसेन के माध्यम से माता पिता की अधिकार लालसा तथा उसके दुष्परिणामों की चर्चा कर मनुष्य को मनुष्य बनकर रहने का संदेश दिया है। कंस के चित्रण में शक्ति का दुरुपयोग करने वाले व्यक्ति का दुराचार किस सीमा पर पहुँच जाता है और अहंकार तथा विवेकशून्यता के कारण अंत में वह अपने ही पैरों पर किस प्रकार कुल्हाड़ी मारता है आदि बातों के दिग्दर्शन से समाज-नेताओं को एक इशारा दे दिया है। कुब्जा का स्वभाव पूर्ववर्ती काव्यों के अनुसार न रखकर उसमें मानवता के अनुकूल भाव व्यक्त किये हैं। पराग

परंपरा के बल अकर्मण्य बने रहेंगे तो क्या ठीक होगा ? जिस तरह पूर्व परंपरागत भूमि को केवल पाने मात्र ही से काम नहीं चलता बल्कि उसमें कर्तव्य करने, झाड़ झंखाड़ को उखाड़ देने तथा बीज बोने का कार्य भी हमें करना पड़ता है। अपनी भूमि को पुत्रों द्वारा पल्लवित, पुष्पित तथा फलित देखकर पूर्वजों को दुःख न होकर प्रसन्नता ही होगी। ठीक यही बात उज्ज्वल परंपरा के संबंध में हो सकती है। अनावश्यक बातों को निकालकर तथा आवश्यकतानुसार नयी नयी प्रथाएँ तथा बातें जोड़कर उसे उज्ज्वलतर बनाने से वे प्रसन्न ही होंगे—

होंगे वे कृतकृत्य सभी तो, तुम सपूत जब होंगे,
नित्य नये फल फूलों वाली हरियाली भर दोगे।
मिला हमें उपवन पुरखों का, यह सौभाग्य हमारा,
फल ही लेंगे या देंगे भी हम श्रम जल की धारा ?[1]

पुरानी वस्तुएँ यदि जीर्ण शीर्ण हो जाती हैं तो उनके प्रति ममत्व दिखाकर उन्हें घर में ही रख देने में फायदा तो कुछ भी नहीं है। आज का कुसुम हार भी कल कूड़ा बन जाता है। अतः पुरानी परंपरा की कुछ बातें कितनी भी सुन्दर होने पर यदि आज जीर्ण एवं निरुपयोगी हुई है तो उनका तुरंत त्याग ही श्रेयस्कर है। दुनिया का यह नियम है कि एक समय जो ग्राह्य होता है वह दूसरे समय त्याज्य भी हो जाता है। सर्दी में परम प्रिय कंबल गरमी के दिनों में भार सा लग जाता है। होली के दिन रंग के छींटे सुंदर लगते हैं वे ही दिवाली के समय धब्बे लगते हैं। अर्थात प्राचीन काल की सभी बातें यद्यपि उस समय अत्युत्तम थीं फिर भी यह आवश्यक नहीं है कि वे इस युग में भी वैसे ही हों। समयानुकूल सम्यक्‌ विचार बुद्धि से काम करने में बुद्धिमानी है। केवल हमारी परंपरा उज्ज्वल थी हमारे यहाँ ऋषि मुनि वीर संत महात्मा थे आदि बातें कहकर काम न चलेगा। भूतकाल हमें यदि प्रेरणा देता है तो अवश्य उन प्रेरणाओं को हम ग्रहण करेंगे परंतु भूतकाल ही पर अवलंबित कदापि न रहेंगे। वर्तमान तथा भविष्य की ओर देखकर काम करने से ही हमें लाभ होगा—

पीछे पितर पृष्ठ पोषक हैं पर भविष्य तो आगे,
यदि अपना परिणाम न देखें, तो हम मंद अभागे।
वर्तमान वह आयोजन है जिस भावी जीवन का,
कुछ अतीत-संकेत मिले तो अधिक लाभ यह जन का।[2]

वर्तमानकालीन समाज में एक न्यूनता की भावना पाई जाती है। पुरानी या उज्ज्वल एवं चमकीली परंपरा का गुणगान गाते व वर्तमान युग को हीन समझते हैं। वास्तव में वर्तमान युग को हीन मानना आत्महीनता होगी। इस प्रकार तथा विचारधारा से हम निरुत्साहित बन जाएँगे। वास्तव में जिस युग में हम पैदा हुए हैं

---

१ द्वापर—मैथिलीशरणगुप्त पृ० ४७
वही पृ० ५१

हमारे लिए सबसे बड़ा युग होना है। प्राचीन युग मे और आज के युग मे कौन-सा बड़ा अन्तर हो गया है ? वही प्रात काल है वही सन्ध्या है, वही सूर्य है, वही चन्द्र है वही रात है, वही दिन है—अर्थात पूर्व युग मे जो प्रकृति थी वही इस युग म भी है। इस युग म हम रहना है पूर्वजो के युग मे नही। अत अपने युग के प्रति पूर्व ग्रहदूषित जो दृष्टिकोण बन गया है उसे बदलना चाहिए। यदि सूक्ष्मता से एव विचारपूर्वक देखा जाए तो ज्ञात होगा कि विगत युग से भी यह युग अधिक श्रेष्ठ है—

विगत हुआ तो विगतो का युग, अपना तो प्रस्तुत है,
कितना नव्य भव्य तुम देखो, यह अपूर्व अदभुत है।
नये नये अध्याय खुले हैं, नये पाठ हैं कितने,
कैसे काट छाट के कौशल और ठाठ हैं कितने।[1]

इतना उपदेश देने पर भी बलराम जैसे नेता की विनम्रता द्रष्टव्य है। बलराम कहते हैं— हे गोपो, तुम मेरे अनुगामी बने हो जिससे तुम्हारा मेरे प्रति प्रेम प्रकट हुआ है। केवल इसी प्रेम के कारण तुमने मेरा नतत्व स्वीकार किया है। परन्तु ध्यान म रखो कि जहाँ कही तुम्हे विरोध करना हो तुम प्रथम अधिकारी हो। मेरी कही हुई बातो को ठीक तरह सोच लो और यदि वे उचित लग जाएँ तो उसे मान लो।' जन तन्त्र का कितना सुन्दर आदर्श प्रस्तुत किया गया है ! उनके पश्चात व फिर अपने विचारो का निवेदन प्रारम्भ करते हैं। मनुष्य जैसा कर्म करता है उसी के अनुसार उसे फल मिलता है। देवताओ को भी अपने कर्म फल को भुगतना पडता है तो हम मानवो का क्या कहना ? हम देवताओ की पूजा अर्चा करते हैं फिर भी दैवी बाधाएँ आती ही रहती हैं। उनसे मुक्ति कहा ? इन मुसीबतो के कारण ही हम सब सपन्न' की प्राप्ति हुई है—

फिर भी दैवी बाधाएँ तो आती ही रहती हैं,
मिल जुलकर सम्पूर्ण प्रजाएँ जिन्हें यहाँ सहती हैं।
सह सकता हो तो सर्वोपरि, इष्ट और क्या भाई?
व्यापक विपदा से ही हमने सघ-सम्पदा पायी।[2]

इसके अनतर जीवन मरण को नियति-दृष्टि से देखकर उन्ह प्राकृतिक परिवर्तन के रूप म समझने का सदेश दिया जाता है। अपनी भूमि मे ही सारी विभूतियाँ पायी जाती हैं। आज के यन्त्र मन्त्रो तथा कर्मकाडों का आडम्बर, देवी देवताओ के नाम पर अपनी प्रवत्तियो का पोषण करने की वत्ति आदि सामाजिक कुप्रथाओ पर करारे व्यग किए गए हैं। अन्त मे न्याय, धर्म, सत्य आदि के लिए अन्याय अधर्म एव असत्य का सामना करना भी श्रेयस्कर तथा योग्य माना है—

१ द्वापर—मैथिलीशरणगुप्त, पृ० ५३
२ वही पृ० ५७

"न्याय धर्म के लिए लड़ो तुम, ऋत हित समझो-बूझो,
अनय राज, निर्दय समाज से निर्भय होकर जूझो।
× × ×
रही चुनौती आज हमारी, अधिक क्या कहूँ यम को,
नयी सृष्टि के लिए प्रलय भी प्रक्षणीय हो हमको।"[1]

बलराम के विचारो मे क्राति का स्वर गूंज उठता है। सभवत गुप्तजी अपने समाज की रूढिगत परपरा के प्रति प्रेम, नवीन प्रथाओ के प्रति झिझक भूतकाल के वैभव का वृथा अभिमान, वर्तमान युग के प्रति औदासिन्य, धार्मिक आडंबर, यज्ञ याग की क्रूरता एव पाशवी वृत्ति अधविश्वास, अधिकार-लालसा, शक्तियो का दुरुपयोग, स्वार्थ परायणता आदि समाज-जीवन की उन्नति म बाधक प्रवत्तियो को नष्ट कर उनके स्थान पर रूढिगत परपराओ का आवश्यकतानुसार त्याग, समयानुसार नवीन प्रथाओ का निर्माण, भूतकाल की अपेक्षा वर्तमान एव भविष्यत की ओर देखने की दृष्टि, मानवता, शक्ति का सदुपयोग सत्कर्म की प्रवत्ति, सतर्कता देशप्रेम, कर्तव्य परायणता आदि समाज जीवन को उच्चतर तथा आदर्श बनाने म उपयुक्त बातो की स्थापना करना चाहते हैं।

इस प्रकार द्वापर के लगभग सभी पात्रो के माध्यम से कही मृदुता से तो कही कठोरता से, कही सकेतात्मक तो कही अत्यत स्पष्ट शब्दो मे कही व्यजनात्मक अथवा लक्षणात्मक प्रणाली से तो कही अभिधात्मक सरल रीति से जहा जसे उचित लगा, मैथिलीशरण गुप्त जी ने सामाजिक प्रबोधन देकर भारतीय जन जीवन को समुन्नत बनाने का सफल प्रयत्न किया है।

---

[1] द्वापर—मैथिलीशरणगुप्त, पृ० ६४ ६५

२० | हिन्दी नाट्य-साहित्य और उसका भविष्य

स्वतन्त्र भारत की राष्ट्रभाषा बनने का महान सौभाग्य हिन्दी को प्राप्त हुआ। जब तक हिन्दी अन्य भारतीय प्रादेशिक भाषाओं के समान मानी जाती थी तब तक उसके साहित्य के भविष्य का विचार सीमित क्षेत्र में ही किया जाता था, लेकिन अब हिन्दी सम्पूर्ण भारत की राष्ट्रभाषा का गौरवपद पा चुकी है इसीलिए उसके साहित्य की ओर भारत के सभी प्रान्तों के लोग बड़ी सतर्कता से देख रहे हैं। हमारे देश की राष्ट्रभाषा का साहित्य अन्य देशों की राष्ट्रभाषा की तुलना में समृद्ध, विशाल एवं उच्च स्तर का होना चाहिए इस प्रकार की यदि कोई अपेक्षा करे तो इसमें आश्चर्य नहीं है। हिन्दी साहित्य के विभिन्न अंग—काव्य, नाटक, कहानी, निबंध, पत्र पत्रिकाएँ तथा आलोचना—आदि को समृद्ध करने का उत्तरदायित्व अब केवल हिन्दी भाषियों पर ही नहीं रहा वरन् अहिन्दी भाषियों का भी हिन्दी साहित्य की समृद्धि तथा उन्नति के लिए सक्रिय योगदान देना चाहिए। मातृभाषा के प्रति पूर्ण आदर तथा प्रेम रखते हुए भी यह कार्य सहज रूप से किया जा सकता है।

अनेक बार देखा जाता है कि मातृभाषा की ओट में कई लोग हिन्दी साहित्य के उपेक्षित अंग पर व्यंग्य करते हैं। वास्तव में यह दृष्टि बदलना अत्यावश्यक है। कुछ प्रादेशिक भाषाओं का साहित्य हिन्दी साहित्य से अधिक समृद्ध दिखाई देता है तो यह हिन्दी के लिए कम गौरव की वस्तु नहीं है। भाषा भगिनियों का आदान प्रदान यदि होता रहे तो हिन्दी साहित्य की सर्वांगीण उन्नति होने देर न लगेगी। हिन्दी साहित्य के विभिन्न अंगों की तुलना में विशेषतः नाट्य-साहित्य बहुत काल तक उपेक्षित रहा है। इस लेख में हिन्दी नाटकों के विकास का संक्षेप में परिचय देते हुए उनके भविष्य का संकेत मात्र करने का प्रयास कर रहा हूँ।

अन्य आधुनिक भारतीय भाषाओं की भाँति हिन्दी भी संस्कृत के गर्भ से उत्पन्न हो चुकी है। अतः संस्कृत की विस्तृत, समृद्ध तथा शक्तिशाली नाटक-परम्परा उत्तराधिकार में पाने का सौभाग्य स्वभावतः उसे भी प्राप्त हुआ है। ऐसा होते हुए भी १६वीं शताब्दी के पूर्व हिन्दी का नाट्य-साहित्य समुन्नत रूप में दिखाई नहीं देता।

बहुत प्रयास करने पर इस काल म लिखित एकाध दजन ही नाटक मिल सकेंगे और इनम भी नाटक के प्रधान तत्वा का सवथा अभाव ही पाया जाता है। फिर भी वास्त विक रूप म हिन्दी नाटकों की अविच्छिन्न धारा भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से ही प्रवाहित हुई।

अभाव के कारण

सस्कृत जसी समद्ध विशाल तथा प्रगल्भ भाषा की परपरा, हिन्दी भाषियो की सख्या विस्तत प्रदेश आदि के होते हुए भी बँगला तथा मराठी भाषाओ की तुलना म हिन्दी नाट्य साहित्य कुछ हद तक पिछडा हुआ क्यो दिखाई देता है? इस समस्या का समाधान करने के लिए हिन्दी नाटका के अभावो के कारणा की सक्षप म विवेचन करना अत्यावश्यक प्रतीत होता है।

उत्तर भारत की राजनतिक एकता का भग होने से केन्द्रीय शासन रहित होकर सवत्र अशाति फल गयी थी। नाटक के यथोचित विकास के लिए देश म चिर शांति का होना अत्य त आवश्यक माना जाता है। इग्लड म एलिजाबथ के शासन काल म शेक्सपियर तथा अन्य नाटककारो द्वारा अग्रजी साहित्य को जो समद्धि प्राप्त हुई उसका प्रधान कारण तत्कालीन दृढ केन्द्रीय शासन तथा देश की चिरशाति ही माना जाता है। दुर्भाग्य स आरभ की कुछ शताब्दियो म हिन्दी प्रदेश म शात वातावरण का अभाव ही रहा। फलत हिन्दी नाट्य साहित्य को विकसित होने के लिए योग्य भूमि न मिली।

नाटक जसी ललित कला का वास्तविक रूप म विकास तभी हो सकता है जब उस राजाश्रय (शासनाश्रय) तथा लोकाश्रय प्राप्त होता है। दोनो म से किसी एक का सहयोग भी विकास के लिए सहायक सिद्ध हो सकता है। यह दिखाई देता है कि संस्कृत तथा अँग्रजी नाट्य-साहित्य के विकास म प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से राजकीय प्रोत्साहन प्राप्त हो चुका है। दुर्भाग्य स मध्यकाल के अन्त तक हिन्दी नाटको को राजाश्रय तथा लोकाश्रय दोना स वचित रहना पडा क्योकि गह कलह चिरशाति का अभाव, परचक्र का भय आदि कारणो से शासक तथा जनता त्रस्त थी। परिणाम स्वरूप नाटक-जसे मनोरजन के साधन की उपेक्षा रही।

नाटको म नाटकोचित प्रभाव उत्पन्न करने के लिए शक्तिशाली तथा प्रौढ गद्य की भी बडी आवश्यकता है। केवल कविता उसके लिए पर्याप्त नही है। हिन्दी साहित्य म १९वी शताब्दी तक गद्य का अभाव-सा दिखाई देता है। अत कुछ अशतक गद्य का अभाव यह भी एक कारण नाट्य साहित्य के विकास म बाधारूप माना जाता है। डा० श्रीकृष्णलाल तथा डा० सोमनाथ गुप्त जसे कुछ विद्वान इस कारण को गौण मानते हैं। संस्कृत के शाकुन्तल उत्तररामचरित आदि नाटको म यद्यपि पद्य की मात्रा अधिक है फिर भी जो गद्य का अश है वह कम शक्तिशाली तथा कम महत्त्वपूर्ण नही है। शेक्सपियर के नाटक मुक्त छन्द (Blank Verse) म लिखे गये हैं जिनम गद्य की विशेषताए विद्यमान है। आज के गीति रूपको में भी मुक्तक छन्द का प्रयोग होता है।

काव्यतत्त्व के समावेश से नाटकों में सौन्दर्य वृद्धि अवश्य होगी परन्तु गद्यांश का सर्वथा बहिष्कार करने से नाट्य-सौंदर्य नष्ट हो जायगा। गद्यांश का अभाव और पद्य की प्रचुरता के कारण कीथ जैसे कई विद्वान भवभूति के 'उत्तररामचरित' को नाटक की अपेक्षा काव्यानगत रचना अधिक उपयुक्त मानते हैं।

नाटक श्रव्य काव्य के साथ साथ दृश्य काव्य भी है। यद्यपि केवल अध्ययन मात्र से भी नाटक का रसास्वादन लिया जा सकता है फिर भी सर्वसाधारण जनता के लिए अभिनय के बिना नाटक निष्प्राण सा लगता है। अभिनय तो नाटक का प्राण माना जाता है। बँगला तथा मराठी का नाट्य साहित्य जो अधिक समृद्ध है उसका प्रमुख कारण रंगमंच का सहयोग ही दिखाई देता है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, बाबू ब्रजरत्नदास आदि विद्वान हिन्दी नाटक के विकास का यही कारण मानते हैं। हिन्दी में भारतेन्दु के पूर्व काल में उन्नत रंगमंच का पूर्ण अभाव था। मध्यकाल में नटों के प्रति अनादर, उपेक्षा, निंदा की भावना, परदा पद्धति, प्रौढ़ परिष्कृत जनरुचि का अभाव आदि कई कारणों से हिन्दी रंगमंच का निर्माण न हो पाया।

मुसलमानों का शासन भी हिंदी नाटकों के विकास में बाधक हुआ। इस काल में संगीत, चित्रकला आदि कलाओं की खूब उन्नति हुई परन्तु नाट्य कला की नहीं। इस्लाम में नाटक जैसी सभी अनुकरणप्रधान कलाएं तथा मनोरंजन के साधन वर्जित हैं इसलिए अकबर, जहाँगीर रसिक होने पर भी नाटकों के प्रति उदासीन ही दिखाई देते हैं। औरंगजेब की असहिष्णुता, मध्ययुगीन नाट्य-कला के मुख्य केन्द्र मंदिरों तथा राजसभाओं का विध्वंस आदि कारण प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रीति से हिन्दी नाटकों की प्रगति में बाधक सिद्ध हुए।

उपर्युक्त कारणों के अतिरिक्त हिन्दी नाटकों के अभाव का और एक प्रबल कारण माना जाता है और वह है भक्तिकाल की वैराग्य भावना। ईसा की १५वीं और १६वीं शताब्दियों में उत्तर भारत में भक्ति आंदोलन का बड़ा जोर रहा। विदेशी शत्रुओं के द्वारा पराजित होने से उत्तर भारत की जनता त्रस्त हुई थी। ऐहिक सुख के अभाव तथा अत्याचारों से पीड़ित जनता को भक्ति मार्ग का आश्रय लेना उचित जान पड़ा। इस काल के संतों ने भी दुःख से युद्ध कर विजय पाने की शिक्षा न दी। भाग्यवाद अथवा नियतिवाद की दुहाई देकर उन्होंने निराश जनता को अधिक निराशावादी और आलसी बना दिया। ऐसे निष्क्रिय निष्प्राण वातावरण में नाटकों की आशा भी हो नहीं जा सकती। डा० लाल के शब्दों में—'नाटक प्रगतिशील जीवन का चित्र है, अजगर की भाँति जीवन व्यतीत करने वालों के जीवन का चित्र नहीं है।'

इस प्रकार हिन्दी नाटकों के अभाव के कारण बताये जा सकते हैं। इसमें से कोई एक कारण स्वतंत्र रूप से हिन्दी नाटकों के अभाव का एकमात्र कारण नहीं बन सकता। इन कारणों के सामूहिक प्रभाव के कारण हिन्दी नाट्य-साहित्य का उदय कई शताब्दियों तक न हो सका।

हिन्दी नाटक का पूर्व स्वरूप

१९वीं शताब्दी के पूर्व धार्मिक उत्सवों तथा पर्वों के अवसर पर खेली जाने वाली लीलाओं में हिन्दी के अविकसित नाटकों के दर्शन मिल सकते हैं। इन लीलाओं में रामलीला, रासलीला तथा नौटंकी विशेष लोकप्रिय रहीं। हिन्दी भाषी प्रदेश के भिन्न भिन्न भागों में लोगों की रुचि तथा धार्मिक प्रवृत्तियों की विभिन्नता के अनुसार विशिष्ट प्रकार की लीलाएँ खेली जाती थीं।

रामलीला—उत्तर भारत में रामलीला को प्रायः वही महत्त्व प्राप्त है जो दुर्गा पूजा को बंगाल में। रामलीला का विशेष प्रचार प्रथमतः अवध, मिथिला तथा काशी में हुआ। बाद में उसका प्रचार अन्यत्र भी काफी हुआ। इसमें श्रीराम के जीवन की घटनाओं को अभिनीत किया जाता था। इनमें रंगमंच तथा नाटकीय उपकरणों का अभाव है। कथानक लम्बे चौड़े होते हैं। सामान्य ग्रामीण जनता की रुचि के अनुकूल होने के कारण इनमें काव्यत्व तथा चरित्रचित्रण की गहराई न के बराबर होती है। इसके वार्तालाप बड़े प्रभावी होते हैं। इसके अनुकरण पर रम्भाशुकसंवाद, जिव्हादन्त नाटक जैसे छन्दोबद्ध वार्तालाप लिखे गये।

रासलीला—मथुरा, वृन्दावन तथा निकटवर्ती प्रदेशों में रासलीला अत्यन्त लोकप्रिय हुई है। आज भी उस प्रदेश में इसका प्रचार दिखायी देता है। इसमें राधा कृष्ण की प्रेम-लीलाओं का प्रदर्शन होता है। ये आकार में छोटे होने के कारण नाटकों के सीमित समय, स्थान और कार्य के बंधन में बांधे जा सकते हैं। इनमें कामचलाऊ ढंग का रंगमंच भी होता है। परन्तु इनके वार्तालाप असंगत और काफी अस्वाभाविक होते हैं। इनमें केवल संगीत का सौन्दर्य और रस का आनन्द पूर्ण रूप से रहता है। भारतेन्दु जी की विख्यात नाटिका चन्द्रावली रामलीला के प्रभाव से प्रभावित है।

नौटंकी—पश्चिमोत्तर संयुक्त प्रांत, दिल्ली और विशेषतः पंजाब के दक्षिणी भागों में नौटंकियों का प्रचलन अधिक मात्रा में दिखाई देता है। इसे सांगीत भी कहा जाता है। शायद संगीत की प्रधानता होने के कारण यह नाम रखा गया हो। नौटंकियों में विख्यात पुरुषों और लौकिक वीरों की कथाएँ भी नाटक रूप में मिलती है। रामायण, महाभारत तथा पुराणों के महापुरुषों की कथाओं का प्रचलन भी पर्याप्त मात्रा में पाया जाता है। रामलीला की भांति नौटंकी मंडलियाँ घूम घूम कर दूर तक के प्रदेशों में नाटक दिखाती थीं। इसमें भी घरेलू तथा कामचलाऊ ढंग का रंगमंच रहता था। छोटे छोटे बालक स्त्रियों का अभिनय करते हैं। दृश्यान्तर के अवसर पर सूत्रधार स्वयं बतलाता था कि अमुक दृश्य कहाँ हो रहा है और पात्र कौन-कौन हैं।

रामलीला, रासलीला तथा नौटंकी में नाट्य कला के अंकुर थे फिर भी नाट्य कला के विकास में इनका विशेष स्थान न रहा। एक ओर रामलीला में संगीत का

सौंदय और रस का प्रवाह विशेष रूप से रहता था और दूसरी ओर रामलीला में चरित्र गाम्भीर्य और प्रभावशाली वार्तालाप की विशेषता थी। रामलीला और रासलीला के प्रधान तत्त्वों का यदि सतुलित एव सुचारु समन्वय किसी प्रकार हो जाता तो इसके फलस्वरूप उच्च कोटि के बडे सुदर नाटकों की सष्टि होती। परन्तु दुर्भाग्यवश ऐसा भाग्य हिंदी साहित्य को प्राप्त नहीं हुआ। क्योंकि १६वी शताब्दी के उत्तरार्ध म पारसी थियेट्रिकल नाटकों का जनता में इतना प्रचार हुआ कि ये लीलाएँ जनता को आकर्षित बनाये रखने म असमर्थ-सी रहीं। अपने सुदर दृश्य, वैज्ञानिक रगमच, आकर्षक वेशभूषा मनोहर दृश्यातर आदि के कारण पारसी कंपनियों के नाटक लोक प्रियता प्राप्त कर चुके थ। करीब करीब तीस वर्षों के लिए नाटक का भाग्यचन्द्र इन कपनियों के कुरुचिपूर्ण नाटकों से ग्रस्त था। श्रेष्ठ-श्रेष्ठ नाटकों का कुरुचिपूर्ण प्रदर्शन होता था। लोकरुचि भ्रष्ट हो गई थी। फलस्वरूप कोई सुदर नाटक या नाटककार भी पदा नहीं हो पाया। हिन्दी नाटकों के विकास म पारसी कपनियों का विशेष हाथ भले ही न रहा हो पर अत्यन्त उपयुक्त वस्तु—रगमच—उन्हीं के द्वारा प्राप्त हुई।

नव जागरण काल

विदेशी शासन के साथ अँग्रेजी भाषा और साहित्य का भारतीय जीवन पर काफी प्रभाव रहा। नवजीवन की शक्तियाँ जागरित हुई। अँग्रेजी के समृद्ध साहित्य का प्रभाव भारत की सभी भाषाओं पर पडा। बँगला तथा मराठी भाषाएँ इन सबमें अधिक प्रभावित हैं।

ब्रिटिश शासनकाल म जीवन की वास्तविकता की तरफ जनता का ध्यान अधिक आकर्षित होने लगा। नाटक के अनुकूल वातावरण की सष्टि होने लगी और नाटकों की रचना बडे उत्साह से होने लगी। अंग्रेजों का शासन स्थिर हो चुका था। फलस्वरूप शान्तता का वायुमडल प्रस्थापित हो गया था। भावाभिव्यक्ति के लिए गद्य की अत्यावश्यकता मालूम हुई। अत गद्य का विकास द्रुत गति से होने लगा। पारसी कंपनियों द्वारा रगमच प्राप्त हुआ ही था। परिष्कृत जनरुचि पदा हो रही थी इसलिए लोकाश्रय प्राप्त होने लगा। ऐसे अनुकूल वातावरण में सौभाग्य से भारतेन्दु हरिश्चन्द्र जैसे महान् द्रष्टा का आविर्भाव हुआ। समय की गति को भारतेन्दु ने अच्छी तरह परख लिया है। हिन्दी के लिए रगमच निर्माण अत्यत आवश्यक है इस रहस्य को उन्होंने जाना। वे स्वय नाटक लिखते थे, दिग्दर्शन करते थ और प्रत्यक्ष नाटकों म काम करते थे। काशी के जिन महाराष्ट्रीय लोगों ने रगमच पर नाटक अभिनीत करने में सहायता दी उनमें श्री० सप्रे नाम के एक सज्जन थे। हिन्दी नाट्य साहित्य का वास्तविक आरम्भ इसी युग में हुआ।

विशुद्ध नाटक के रूप म लिखा हुआ गोपालचंद्रजी का 'नहुष नाटक' हिन्दी का प्रथम नाटक माना जाता है। इसी के आसपास कालिदास के महान् नाटक शाकुन्तल का अनुवाद राजा लक्ष्मणसिंह ने "शकुन्तला" के रूप में प्रस्तुत किया। रीवाँ नरेश विश्वनाथसिंह के आनन्द 'रघुनन्दन' म सवाद, अकद्विभाग और ...

भी पाया जाता है। ब्रजवासीदास का 'प्रबोध चन्द्रोदय' अनूदित नाटक भी इसी समय लिखा गया। इस प्रकार हिंदी नाट्य साहित्य प्रगति की दिशा की ओर शीघ्रता से बढ़ने लगा।

भारतेन्दु युग (सं० १८६७ से १८८५)

हिंदी नाट्य-साहित्य के सच्चे अर्थों में जन्मदाता भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ही माने जाते हैं। वे संस्कृत, बंगला, अंग्रेजी साहित्य के ज्ञाता थे। असाधारण प्रतिभा के कारण निरन्तर लेखनकार्य करते रहे। हिन्दी साहित्य भारतेन्दु की साहित्य सेवा का सदैव ऋणी रहेगा। अब तक के नाटक पौराणिक और धार्मिक ही थे। परन्तु भारतेन्दु की लेखनी ने पौराणिक ही नहीं सामाजिक और राष्ट्रीय भावना से परिपूर्ण कई कल्पना प्रधान नाटकों को जन्म दिया। अंधेरनगरी प्रेमयोगिनी, विषस्य विषमौषधम् वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति, भारतदुर्दशा, नीलदेवी भारतजननी, सत्य हरिश्चन्द्र, सत्यप्रताप, चन्द्रावली आदि उनके प्रसिद्ध मौलिक नाटक हैं। अनूदित नाटकों में से मुद्राराक्षस कर्पूरमंजरी, रत्नावलि दुर्लभबंधु विद्यासुन्दर आदि नाटक प्रसिद्ध हैं।

भारतेन्दुजी ने प्राचीन का आदर करते हुए युग की सामान्य स्थितियों के अनुकूल नाट्य कला को नवीन रूप दिया। नाटक प्रहसन नाटिका जैसे रूपक उपरूपकों के भेदों का ध्यान में रखकर आपने नाटक लिखे। साथ साथ अंकों की योजना जीवन की घटनाओं से सम्बन्धित कथानक, सजीव एवं यथार्थ चरित्र चित्रण बहिर्द्वन्द्व के साथ साथ अंतर्द्वन्द्व का प्रदर्शन आदि नाटकीय तत्त्वों का पुरस्कार किया। पात्रों के अनुकूल भाषा भावपूर्ण रसानुभूति में सहायक गीत, उद्देश्य प्रधान कथानक आदि अपनी मौलिक बातों से उन्होंने नाटक कला के सामने एक आदर्श रख दिया। हिंदी नाट्य परम्परा को इतने वेग से चलाने वाले प्रतिभासम्पन्न नाटककार का लाभ हिंदी साहित्य को अधिक काल तक न मिल सका। अतः उनके अस्त होते ही हिंदी नाट्य साहित्य में पुनः अंधकार छा गया।

उन्नीसवीं शताब्दी में भारतेन्दु के पश्चात् प्रमुख नाटककारों में सब प्रथम हैं लाला श्रीनिवासदासजी। 'रणधीर और प्रेममोहिनी' 'तप्ता संवरण' 'संयोगिता स्वयंवर' उनके मौलिक नाटक हैं। इनके अतिरिक्त राधाकृष्णदास का 'महाराणा प्रताप' एक श्रेष्ठ ऐतिहासिक नाटक है। इनके दूसरे नाटक हैं दु:खिनीबाला 'महारानी पद्मावती'। अयोध्यासिंह उपाध्याय के 'प्रद्युम्न विजय', 'व्यायोग' 'रुक्मिणी परिणय' तथा किशोरीलाल गोस्वामी का 'मयंक मंजिरी' विशेष उल्लेखनीय हैं। प्रताप नारायण मिश्र के 'भारत दुर्भाग्य' और 'कलिकौतुक रूपक' तथा अंबिकादत्त व्यास का 'गो संकट' नाटक अपने युग की सामाजिक और आर्थिक समस्याओं को लेकर लिखे गये। बालकृष्ण भट्ट ने 'बालविवाह' 'रेल का विकट खेल' 'कलिराज की सभा' तथा राधाचरण स्वामी ने 'सती चंद्रावली', अमरसिंह राठौड़, श्री दामा' आदि नाटक लिखे। इनके अतिरिक्त अनेक नाटककारों की रचनाएँ इस युग में प्रकाश में आई हैं परन्तु उन सब का उल्लेख मात्र करना भी यहाँ संभव नहीं है।

इस काल में उत्कृष्ट नाटकों की निर्मिति अपेक्षा के अनुसार न हो सकी। मौलिक नाटकों की रचना कम हुई। क्योंकि रंगमंच पारसी कंपनी के हाथ में था। कला की अपेक्षा पैसा की ओर ही उनका ध्यान अधिक था। उन्होंने लोगों की रुचि को बिल्कुल हीन बना दिया। प्राचीन संस्कृत साहित्य की अमर निधियाँ हिंदी में लाने की ओर उस समय के नाटककारों का अधिक ध्यान रहा। संस्कृत के कालिदास भवभूति, शूद्रक के नाटकों के अनुवाद लाला सीताराम भूप ने किये। अंग्रेजी में शेक्सपियर के नाटकों के भी सफल अनुवाद किये गये। बंगला के नाटकों के अनुवाद भी किये गए।

संक्रांत काल (सन १८८५ से १९१०)

इस काल में नाट्य साहित्य की दृष्टि से कोई विशेषता दिखाई नहीं देता। इस काल में राधेश्याम कथावाचक, नारायणप्रसाद बेताब, श्रीकृष्ण जौहर विश्वंभर सहाय व्याकुल, तुलसीदास शैदा के नाटकों की जनसाधारण में बड़ी धूम रही। ये सभी मौलिक नाटककार हैं। इनके नाटक अधिकतर पौराणिक हैं। इनमें रंगमंच का खयाल रखा गया है। फिर भी सभाषण में पद्य की भरमार और गद्य में तुक का जमघट आदि दोष हैं। ये नाटककार सवदा रोमांचकारी और आवश्यक दृश्य दृश्यान्तरों की खोज में रहा करते थे। अति प्राकृत प्रसंग इन दृश्यों के रूप में प्रदर्शित किये गये। कभी कभी पौराणिक नाटकों का यथार्थवाद भद्दा एवं कुरुचिपूर्ण होता था। चरित्र चित्रण भी अत्यंत साधारण ही रहा।

माखनलाल चतुर्वेदी के 'कृष्णार्जुन युद्ध' नाटक, माधव शुक्ल के 'महाभारत' और जगन्नाथ प्रसादजी के 'तुलसीदास' आदि नाटकों में वास्तविक वातावरण की सृष्टि हुई। फिर भी उनमें कहीं कहीं कालदोष पाए जाते हैं।

भट्ट धारा के नाटककारों ने पौराणिक नाटकों में वास्तविक वातावरण की सृष्टि का जो पौराणिक की अपनी यथार्थ थी। चरित्र चित्रण की दृष्टि से भी ये नाटक कुछ कदम आगे बढ़े हैं। फिर भी चरित्र की महत्ता समझकर भी कथावस्तु के सौंदर्य और क्रमविकास की ओर अधिक ध्यान देने के कारण उच्च चरित्रों का निर्माण नहीं कर सके।

सभाषण कला का भी विकास इस काल में हुआ। बदरीनाथ भट्ट रचित तुलसीदास नाटक में सभाषण सरल छोटे और रंगमंच के उपयुक्त बने हैं। फिर भी इनमें छंदों का प्रयोग अधिक था। इन नाटकों में घटनाओं की क्रिया प्रतिक्रिया तो अवश्य किसी न किसी रूप में मिलती है पर मनोवैज्ञानिक चित्रण की ओर लेखकों का ध्यान भी नहीं रह पाया। इस समय बंगला नाटकों के अनुवाद भी अधिक लोकप्रिय थे।

प्रसाद युग (सन १९१० से १९३४)

जयशंकर प्रसाद के आगमन से हिंदी नाट्य-साहित्य का कायाकल्प हुआ। इन्होंने गंभीर ऐतिहासिक अध्ययन पर प्राचीन भारतीय गौरव, सभ्यता, संस्कृति और परंपरा

भी पाया जाता है। ब्रजवासीदास का 'प्रबोध चन्द्रोदय' अनूदित नाटक भी इसी समय लिखा गया। इस प्रकार हिंदी नाट्य-साहित्य प्रगति की दिशा की ओर शीघ्रता से बढ़ने लगा।

भारतेन्दु युग (सन् १८६७ से १८८५)

हिंदी नाट्य साहित्य के सच्चे अर्थों म जन्मदाता भारतन्दु हरिचन्द्र ही माने जाते हैं। व सस्कृत बगला अग्रेजी साहित्य के ज्ञाता थे। असाधारण प्रतिभा के कारण निरन्तर लेखनकार्य करते रह। हिंदी साहित्य भारतन्दु की साहित्य सेवा का सदैव ऋणी रहगा। अब तक के नाटक पौराणिक और धार्मिक ही थ। परन्तु भारते दु की लेखनी ने पौराणिक ही नहीं सामाजिक और राष्ट्रीय भावना स परिपूर्ण कई कल्पना प्रधान नाटकों को जन्म दिया। अंधेरनगरी, प्रेमजोगिनी, विषस्य विषमौषधम, वदिकी हिंसा हिंसा न भवति भारतदुर्दशा, नीलदेवी, भारतजननी सत्य हरिश्चद्र सत्यपनाप, चन्द्रावली आदि उनके प्रसिद्ध मौलिक नाटक हैं। अनुवादित नाटकों म से मुद्राराक्षस कपूरमजिरी रत्नावलि दुलभबधु विद्यासुदर आदि नाटक प्रसिद्ध हैं।

भारतेन्दुजी ने प्राचीन का आदर करते हुए युग की सामान्य स्थितियों के अनुकूल नाट्य कला को नवीन रूप दिया। नाटक प्रहसन नाटिका जस रूपक उप रूपकों क भेदों का ध्यान म रखकर आपने नाटक लिखे। साथ साथ अंकों की योजना जीवन की घटनाओं स सम्बधित कथानक सजीव एव यथाथ चरित्र चित्रण बहिर्द्वद्व के साथ साथ अतर्द्वद्व का प्रदर्शन आदि नाटकीय तत्वों का पुरस्कार किया। पात्रों के अनुकूल भाषा, भावपूर्ण रसानुभूति म सहायक गीत, उद्देश्य प्रधान कथानक आदि अपनी मौलिक बातों से उन्होंने नाटक कला क सामने एक आदर्श रख दिया। हिंदी नाट्य परम्परा को इतने वेग से चलाने वाले प्रतिभासपन्न नाटककार का लाभ हिंदी साहित्य को अधिक काल तक न मिल सका। अत उनके अस्त होने हा हिन्दी नाट्य साहित्य म पुन अधकार छा गया।

उन्नीसवीं शताब्दी म भारतन्दु क पश्चात प्रमुख नाटककारों म सव प्रथम हैं लाला श्रीनिवासदासजी। 'रणधीर और प्रेममोहिनी' 'तप्ता सवरण' सयोगिता स्वयवर उनके मौलिक नाटक हैं। इनके अतिरिक्त राधाकृष्णदास का 'महाराणा प्रताप' एक श्रेष्ठ ऐतिहासिक नाटक है। इनके दूसरे नाटक हैं दुःखिनीबाला, 'महारानी पद्मावती। अयोध्यासिंह उपाध्याय के 'प्रद्युम्न विजय' 'व्यायोग रुक्मिणी परिणय तथा किशोरीलाल गास्वामी का 'मयक मजिरी' विशेष उल्लेखनीय हैं। प्रताप नारायण मिश्र क 'भारत दुदशारूपक' और कलिकौतुक रूपक तथा अम्बिकादत्त व्यास का 'गो सकट' नाटक अपने युग की सामाजिक और आर्थिक समस्याओं को लकर लिख गय। बालकृष्ण भट्ट ने बालविवाह' रेल का विकट खेल', 'कलिराज की सभा तथा राधाचरण स्वामी न सती चद्रावली, अमरसिंह राठोड 'श्री दामा' आदि नाटक लिख। इनक अतिरिक्त अनक नाटककारों की रचनाएँ इस युग म प्रकाश म आई हैं परन्तु उन सब का उल्लख मात्र करना भी यहाँ सभव नहीं है।

इस काल में उत्कृष्ट नाटकों की निर्मिति अपेक्षा के अनुसार न हो सकी। मौलिक नाटकों की रचना कम हुई। क्योंकि रंगमंच पारसी कंपनी के हाथ में था। कला की अपेक्षा पैसे की ओर ही उनका ध्यान अधिक था। उन्होंने लोगों की रुचि को बिल्कुल हीन बना दिया। प्राचीन संस्कृत साहित्य की अमर निधियाँ हिन्दी में लाने की ओर उस समय के नाटककारों का अधिक ध्यान रहा। संस्कृत के कालिदास भवभूति, भट्ट के नाटकों के अनुवाद लाला सीताराम भूप ने किये। अंग्रेज़ी से शेक्सपियर के नाटकों के भी सफल अनुवाद किये गये। बंगला के नाटकों के अनुवाद भी किये गए।

संक्रांति-काल (सन १८८५ से १९१०)

इस काल में नाट्य साहित्य की दृष्टि से कोई विशेषता दिखाई नहीं देती। इस काल में राधेश्याम कथावाचक, नारायणप्रसाद बेताब, श्रीकृष्ण जौहर, विश्वंभर सहाय व्याकुल, तुलसीदास शैदा के नाटकों को जनसाधारण में बड़ी धूम रही। ये सभी मौलिक नाटककार हैं। इनके नाटक अधिकतर पौराणिक हैं। इनमें रंगमंच का ख्याल रखा गया है। फिर भी संभाषण में पद्य की भरमार और गद्य में तुक का जमघट आदि दोष हैं। ये नाटककार सदा रोमांचकारी और भयंकर दृश्य दिखलाने का मोह न रोक सके। अति प्राकृत प्रसंग इन दृश्यों के रूप में प्रदर्शित किये गये। कभी कभी पौराणिक नाटकों का यथार्थवाद भद्दा एवं कुरुचिपूर्ण होता था। चरित्र चित्रण भी अत्यन्त साधारण ही रहा।

माखनलाल चतुर्वेदी के 'कृष्णार्जुन युद्ध' नाटक, माधव शुक्ल के 'महाभारत' और जगन्नाथ प्रसाद जी के 'तुलसीदास' आदि नाटकों में वास्तविक वातावरण की सृष्टि हुई। फिर भी उनमें कहीं कहीं कल्पनीय पाए जाते हैं।

भट्ट धारा के नाटककारों ने पौराणिक नाटकों में वास्तविक वातावरण की सृष्टि की जो पौराणिक की अपेक्षा यथार्थ थी। चरित्र चित्रण की दृष्टि से भी ये नाटक कुछ कदम आगे बढ़े हैं। फिर भी चरित्र की महत्ता समझकर भी कथावस्तु के सौन्दर्य और घर्मविकास की ओर अधिक ध्यान देने के कारण उच्च चरित्रों का निर्माण नहीं कर सके।

संभाषण कला का जो विकास इस काल में हुआ। बदरीनाथ भट्ट रचित तुलसीदास नाटक में संभाषण सरल, छोटे और रंगमंच के उपयुक्त बने हैं। फिर भी इनमें छंदों का प्रयोग अधिक था। इन नाटकों में घटनाओं की क्रिया प्रतिक्रिया तो अवश्य किसी न किसी रूप में मिलती है पर मनोवैज्ञानिक चित्रण की ओर लेखकों का ध्यान भी नहीं रह पाया। इस समय बँगला नाटकों के अनुवाद भी अधिक लोकप्रिय थे।

प्रसाद युग (सन १९१० से १९३८)

जयशंकर प्रसाद के आगमन से हिन्दी नाट्य-साहित्य का कायाकल्प हुआ। इन्होंने गंभीर ऐतिहासिक अध्ययन पर प्राचीन भारतीय गौरव, सभ्यता संस्कृति और

हिंदी नाटक का भविष्य

उपर्युक्त विवेचन से हिंदी नाट्यसाहित्य का सामान्य परिचय हो सकता है। उन्नीसवीं शताब्दी के अंत से प्रारंभ होकर आजतक सत्तर अस्सी वर्षों में हिन्दी के नाट्य साहित्य का जो विकास हुआ वह अत्यन्त प्रशंसनीय है। निःसन्देह आज का हिन्दी का नाट्य साहित्य बहुमुखी समृद्ध और सम्पन्न है। एक राष्ट्रभाषा के नाते उसका साहित्य और भी समृद्ध बनना चाहिए। उसके भविष्य को निश्चयपूर्वक कहना कठिन है पर अनुमान मात्र किया जा सकता है।

शिल्पविधान की दृष्टि से आज के कई हिन्दी नाटक निश्चित ही उच्च कोटि मे रखे जाने योग्य है। नवीन विचारधारा तथा वातावरण के प्रभाव से नाट्य के विभिन्न रूपों का भी द्रुतगति से विकास हो रहा है। १९वीं शताब्दी के पूर्व हिंदी नाटकों को विकसित होने को अनुकूल भूमि न थी। आज की स्थिति पूर्ण रूपसे अनुकूल है। एक प्रादेशिक भाषा के नाते हिंदी का हिंदी भाषी प्रदेशों में ही क्षेत्र था अब राष्ट्रभाषा के नाते संपूर्ण भारत का क्षेत्र उसे प्राप्त हो चुका है। भारत सरकार ने हिंदी को राजभाषा बनाने की घोषणा कर दी है। परंतु व्यावहारिक कठिनाइयों का ध्यान मे रखकर राजभाषा के इस परिवर्तन के लिए पंद्रह वर्ष की अवधि सीमा जो संविधान द्वारा पहले निश्चित की गई थी वह नये भाषा बिल द्वारा हटा दी गई है। यह व्यवस्था की गई है कि जब तक सभी प्रांतों के लोग हिंदी भाषा को राजभाषा और संपर्क भाषा के रूप में मान्य न कर लें तब तक हिन्दी को जबरन लागू न किया जाय। पर सरकार की इस ढुलमिल नीति के विरोध में हिंदी जगत अधिक सक्रिय हो उठा है और शीघ्र ही उसे राजभाषा के गौरव पद पर आसीन करना चाहता है अत यह अत्यंत स्वाभाविक है कि भविष्य में हिन्दी पढने तथा समझने वालों की संख्या ज्यों ज्यों बढेगी त्यों त्यों साहित्य मे अवश्य ही वृद्धि हो सकेगी।

हिंदी नाटक पाश्चात्य साहित्य से पर्याप्त मात्रा में प्रभावित है। पाश्चात्य नाटककारों से प्रभावित होनेपर भी हिंदी नाटककारों को अपनी रचनाओं मे मौलिकता का परिचय देने की बडी आवश्यकता है।

अबतक हिंदी भाषा मे अंग्रेजी, संस्कृत तथा बंगला नाटकों के ही अनुवाद हुए। स्वतंत्र भारत की राष्ट्रभाषा के साहित्य को समृद्ध कराने में भारत की अन्य प्रादेशिक भाषाओं की उत्कृष्ट कृतियों को हिंदी मे अनूदित करना भी आवश्यक है। प्रसन्नता की बात है कि इस दिशा मे आजकल बडे उत्साह से प्रयत्न हो रहा है। इस योजना में सरकार तथा जनता का पूर्ण सहयोग अपेक्षित है। प्रांतीय भाषाओं की उत्कृष्ट कृति के अनुवाद प्रकाशित करने मे लेखकों को सरकार के द्वारा आर्थिक सहायता मिलनी चाहिए और जनता को भी प्रांतीयता के संकुचित दायरे का छोड अन्य भाषाओंका उत्तम साहित्य पढने की रुचि पैदा करनी चाहिए। हिंदी नाटक की मौलिक रचना हिन्दी भाषियोंसे होती ही रहेगी पर अहिंदी प्रदेशों के लेखकों को

भी मौलिक रचना द्वारा हिन्दी नाट्य-साहित्य की श्रीवृद्धि में सहयोग देने की बड़ी आवश्यकता है। केवल अनुवाद मात्र ठीक नहीं। साथ-साथ मौलिक रचनाओं का भी योगदान अपेक्षित है।

भारत के भिन्न भिन्न प्रांतों के लोगों द्वारा अपने विचारों के आदान प्रदान के लिए हिन्दी भाषा ही जब माध्यम के रूप में रहेगी, तब वे एक दूसरे के संपर्क में अधिक आएँगे। और स्वभावतः हिन्दी साहित्य में अन्य प्रादेशिक भाषाओं की श्रेष्ठ कृतियों का सहज समावेश भी हो सकेगा। और यह अनुमान सहज ही किया जा सकता है कि हिन्दी-नाट्य साहित्य भविष्य में अत्यन्त समृद्ध, संपन्न एवं बहुमुखी बनेगा। आज का हिंदी नाट्य-साहित्य भी कम समृद्ध नहीं है फिर भी भारत जैसे देश की राष्ट्रभाषा के साहित्य को अन्य देशों की राष्ट्रभाषा के साहित्य की टक्कर का बनने में देर नहीं लगेगी। इस कार्य की सफलता सहयोग की भावना पर अवलंबित है। नाटक श्राव्य काव्य के साथ ही दृश्य काव्य भी है इस बात को भूलना नहीं चाहिए। अभिनेयता नाटक का प्रधान गुण है। नाट्य-साहित्य को सामान्य जनता तक पहुँचाने का एकमेव साधन है समृद्ध तथा प्रगत रंगमंच। नाटक की सफलता तभी मानी जायगी जब वह साहित्यिक दृष्टि से परिपूर्ण होते हुए भी रंगमंच पर अभिनय करने योग्य हो। हिंदी साहित्य में साहित्यिक दृष्टि से अत्यन्त उच्च श्रेणी के नाटक होते हुए भी जनता में उनका प्रचार कम इसलिए हुआ कि हिंदी में रंगमंच विकसित रूप में पाया नहीं जाता। हाँ, पृथ्वीराज कपूर ने 'पठान' 'दीवार', 'आहुति' जैसे आदि नाटकों को रंगमंच पर अभिनीत किया है। पृथ्वीराज ने हिंदी रंगमंच को अद्यावत तथा प्रगत रूप देने का जो प्रयास किया वह प्रशंसनीय है। यह भी देखा गया कि अहिंदी प्रदेशों में भी उनके नाटक अत्यन्त लोकप्रिय हुए हैं। उसका प्रधान कारण आधुनिक रंगमंच रहा। लेकिन एक पृथ्वीराज हिंदी के विशाल प्रदेश के लिए पर्याप्त नहीं है उसी की तरह अनेक लोगों को हिंदी रंगमंच की उन्नति का प्रयत्न करना चाहिए। अहिंदी प्रदेश के लोग भी जिनका रंगमंच विकसित रूप में है इस दिशा में सहयोग दे सकते हैं। उच्च श्रेणी के अभिनय द्वारा जनरुचि में भी परिवर्तन सहज संभव है। उत्तरी भारत में रंगभूमि के अनुकूल वातावरण का निर्माण होने में देर न लगेगी यदि उस दिशा में पर्याप्त प्रयत्न किए जाएँ।

आज के विज्ञान युग में मनोरंजन के नवीन नवीन साधन निर्माण हो रहे हैं। उनमें चित्रपट तथा रेडियो नाटक अत्यन्त लोकप्रिय बन चुके हैं। उसका नाटक के विकास पर कुछ हद तक प्रभाव अवश्य पड़ चुका है। सिनेमा की बढ़ती लोकप्रियता को देखकर पाश्चात्य देशों में भी नाटक प्रेमियों को आशंका हुई कि कहीं चित्रपट रंगमंच का अन्त न कर दे। परंतु अनुभव से यह आशंका निर्मूल सिद्ध हुई। इंग्लैंड, अमरीका तथा अन्य पाश्चात्य देशों में आज भी असंख्य लोग सिनेमा की अपेक्षा

रंगमंच के जीवित अभिनेता के वास्तविक अभिनय को देखना अधिक पसंद करते हैं। भारत में भी रंगमंच पुनः सिर उठाने लगा है। जिस प्रकार कैमरे के प्रचार से चित्रकारों का काम बंद नहीं हुआ, रेडियो के प्रचार से समाचारपत्रों की लोकप्रियता कम नहीं हुई, ग्रामोफोन के प्रचार से वाद्य संगीत के प्रत्यक्ष प्रयोग पर कुछ प्रभाव नहीं हुआ, उसी प्रकार सिनेमा या, रेडियो नाटक के प्रचार से हिन्दी नाटक के आतंकित होने की कोई आवश्यकता नहीं। सुशिक्षित, सुसंस्कृत जनता सदैव उसका आदर ही करेगी।

२१ | छायावाद और स्वच्छंदतावाद

आधुनिक हिंदी साहित्य में 'छायावाद' का अपना विशेष स्थान है। बीस-पचास वर्ष की अल्प अवधि में छायावादी कवियों ने खड़ी बोली हिंदी की शब्द-संपत्ति, अर्थ गौरव, भाव गरिमा, लाक्षणिकता और व्यंजकता की अतुल शक्ति का बोध अपने काव्य द्वारा सफलता से कराया। आरंभ में छायावादी कवियों को प्रखर विरोध भी सहना पड़ा, परंतु विरोध की यह मात्रा भी मंद होती गयी। आधुनिक हिंदी कविता की समीक्षा छायावाद के विवेचन के बिना अपूर्ण मानी जाने लगी। फलस्वरूप इसके स्वरूप को स्पष्ट करने की दृष्टि से अनेक विद्वानों ने अपने अपने दृष्टिकोण से समीक्षात्मक लेखन भी पर्याप्त मात्रा में किया। छायावाद की परिभाषा के नपे तुले शब्दों में सीमित करने के प्रयत्न भी कम नहीं हुए परंतु उसमें एक सूत्रता के स्थान पर विचार वैभिन्न्य ही अधिक मात्रा में प्राप्त होता है।

किसी ने छायावाद को 'कायावत्तिका प्रच्छन्न पोषण' कहा, तो किसी ने उसे 'नूतन सांस्कृतिक मनोभावना का उन्मेष तथा एक स्वतंत्र दर्शन की आयोजना' माना। कुछ विद्वानों के मतानुसार छायावाद रहस्यवाद का स्वाभाविक विकास' है तो कुछ उसे रोमांटिसिज्म अर्थात 'स्वच्छंदतावाद का वाचक' मानते हैं। इस प्रकार परस्पर विरोधी कथनों के कारण छायावाद के संबंध में अनेक भ्रांत धारणाएं बनी हैं। छायावाद' में रोमांटिसिज्म अर्थात स्वच्छंदतावाद की कुछ विशेषताएं देखकर उसे स्वच्छंदतावाद का पर्यायवाची भी माना जाने लगा है जो समीचीन प्रतीत नहीं होता।

हिंदी में छायावादी कविताओं की जो समीक्षाएँ की गयीं उनमें अंग्रेजी के रोमांटिक कवि वर्ड्सवर्थ, शैली, कीट्स आदि के प्रभाव की चर्चा भी होने लगी और इसी सिलसिले में छायावाद के साथ रोमांटिसिज्म का नाम भी सहजता से जुड़ गया। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने रोमांटिसिज्म के लिए 'स्वच्छंदतावाद' शब्द का प्रयोग किया जिसे परवर्ती विद्वानों ने स्वीकृति भी दे दी। स्वच्छंदतावाद अथवा रोमांटिसिज्म शब्द सामान्यतः एक प्रवृत्ति विशेष मात्र का द्योतन करता है। यह प्रवृत्ति प्राय: सभी साहित्यों के अंतर्गत न्यूनाधिक मात्रा में पायी जाती है। परंपरागत

भारतीय परिभाषा के अनुसार साहित्यिक छायावादियों को ही स्वच्छंदतावादी कहा जा सकता है। दूसरे शब्दों में प्राचीन विशिष्ट परम्परा का ही केवल अनुगमन न कर उसके विरोध में स्थापित होने वाली विचारधारा को स्वच्छन्दतावाद के नाम से अभिहित किया जाता है। एबरक्राम्बी के मतानुसार रोमांटिसिज्म मन की उस प्रवृत्ति का नाम है जिसके द्वारा वह बाह्य संसार से संबंध विच्छेद कर अपने अन्तस् के तत्वों की ओर उन्मुख होता है।[1]

छायावाद और स्वच्छन्दतावाद का पार्थक्य स्पष्ट कर देने के लिए इन दोनों की पृष्ठभूमि तथा विशेषताओं पर संक्षेप में विचार करना वांछनीय प्रतीत होता है। एक सामान्य प्रवृत्ति का नाम होने पर भी रोमांटिसिज्म का विशिष्ट प्रयोग यूरोप में उन्नीसवीं शताब्दी के अंग्रेजी काव्य के लिए किया जाता है जिसके अन्तर्गत वर्ड्सवर्थ, शैली, कीट्स, बायरन आदि अंग्रेजी कवियों का समावेश होता है। यों अठारहवीं शताब्दी के अंत और उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में रोमांटिसिज्म का जन्म तथा विकास योरप में हुआ। उसके मूल में योरप की तत्कालीन सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक और धार्मिक परिस्थिति की प्रतिक्रियाओं का ही प्रमुख हाथ रहा। इस दृष्टि से १७८९ ई० में फ्रांस में जो राज्यक्रांति हुई वह अधिक महत्वपूर्ण रही। रूसो रोमांटिक धारा का प्रथम प्रतिनिधि माना जाता है। स्वातन्त्र्य लालसा एवं प्राचीन धर्म, परम्परागत सामाजिक संस्कार आदि के बंधनों के त्याग पर उसका विशेष आग्रह था। साहित्य को परम्परागत नियम सीमा, आदर्श, उद्देश्य आदि के बंधनों से निकालकर मुक्त एवं व्यापक बनाया गया। साहित्य को जीवन का प्रतिबिंब माना जाता है अतः वह भी जीवन की भाँति गतिशील एवं युग तथा परिवेश के अनुकूल परिवर्तनशील होता है। इस तथ्य को जानकर ही साहित्यकारों ने परंपरा के प्रति विद्रोह कर अनुकरण के स्थान पर आंतरिक प्रेरणा को महत्व दिया। फिलिप सिडनी की 'एन एपॉलोजी फार पोएट्री', शेली की 'डिफेन्स आफ पोएट्री' तथा कालरिज की 'बायग्राफिया लिटरेरिया' आदि पुस्तकों का समावेश इस कोटि में किया जाता है।[2]

रोमांटिसिज्म में आध्यात्मिक स्तर का प्रकृति प्रेम, व्यापक तथा उदार मानवतावाद के प्रति विश्वास, काव्य की अभिव्यक्ति प्रणाली में मुक्तता एवं स्वच्छन्दता आदि बातें विशेष महत्त्वपूर्ण मानी जाती हैं। हिंदी के वरिष्ठ समालोचक आचार्य रामचंद्र शुक्ल जी ने अपने हिंदी साहित्य के इतिहास में छायावाद और स्वच्छन्दतावाद

---

१ Romanticism is that attitude of mind in which it withdraws itself from commerce with other world and turns is upon things which it finds within itself

Romanticism by Ambercrombie page 22

२ हिंदी साहित्य कोश पृ० ६७६

के पावस्य की ओर स्पष्ट सकेत किया है परतु उसकी ओर परवर्ती समीक्षको म से अधिकाश लोगो ने गभीरतापूवक ध्यान नही दिया। आचाय शुक्ल जी ने प्रकृति प्रागण क चर अचर प्राणिया का रागपूण परिचय, उनकी गतिविधि पर आत्मीयता व्यजक दृष्टिपात, सुख दु ख मे उनके साहचय की भावना आदि को स्वच्छदतावाद के पदचिह्न माना है। इसस स्पष्ट होता है कि उन्होने रोमाटिसिज्म के वास्तविक अथ को ग्रहण किया है, जिसमे छायावाद की रहस्य भावना को स्थान नही है। उनके अनुसार छायावाद क प्रारभ के पूव मथिलीशरण गुप्त, मुकुटधर पाडेय आदि कई कवि खडी बोली काव्य को अधिक कल्पनामय, चित्रमय और अतर्मावव्यजक रूप रग देने म प्रवत्त हुए थे और वही स्वाभाविक स्वच्छदतावादी काव्य धारा थी।[1] नामवर सिह जी न आचाय रामचद्र शुक्ल की इस परिभाषा का उल्लेख करते हुए लिखा है कि शुक्ल जी के 'स्वच्छदतावाद' की परिभाषा इतनी सीमित थी कि वह सपूर्ण छायावादी कविताओ को घेर न सकी, उसकी सीमा मे केवल श्रीधर पाठक रामनरेश त्रिपाठी, गुरुभक्तसिंह, सियारामशरण गुप्त, सुभद्राकुमारी चौहान, उदयशकर भट्ट और सभवत नवीन तथा माखनलाल चतुर्वेदी ही आ सके।[2] जो लोग स्वच्छदतावाद को ही छायावाद समझते हैं उनके लिए आचाय शुक्लजी की स्वच्छदतावाद की परिभाषा अवश्य अपूण है, परन्तु रोमाटिसिज्म के वास्तविक अथ की दृष्टि से विचार करने पर यह स्पष्ट होगा कि आचाय शुक्ल जी की परिभाषा अधिक प्रामाणिक है। यह सत्य है हिन्दी के छायावादी कवि अग्रेजी के रोमाटिक कवियो से प्रभावित हुए थ। अत अनेक मान्य म रोमाटिसिज्म अर्थात स्वच्छदतावाद की विशेषता मिलना सहज स्वाभाविक बात है। परतु छायावाद का स्वच्छदतावाद मानकर उसम केवल स्वच्छदतावाद की ही विशेषता देखना उचित न होगा क्योकि छायावादी कवि केवल अग्रेजी के रोमाटिक कविया से ही प्रभावित नही हुए अपितु समकालीन अन्य प्रवत्तियो स भी वे प्रभावित रहे। अत छायावाद को स्वच्छदतावाद का वाचक मानना छायावाद' की व्यापकता को सकुचित करना है।

प्राय किसी भी साहित्यिक धारा का सूत्रपात किसी निश्चित योजना को सम्मुख रखकर नही होता। विशिष्ट परिस्थितियों मे अथवा व्यक्तियो म प्रतिफलित कोई प्रवत्ति विशेष साहित्य म जब सशक्त हो जाती है तब वह किसी धारा के रूप म प्रचलित होती है। उस धारा को किसी विशिष्ट सना से अभिहित किया जाता है, उसके लक्षण निर्धारित किय जाते हैं और फिर उन लक्षणो क आधार पर उसकी समीक्षा भी आरम्भ होने लगती है। छायावाद के सबध म भी ठीक यही बात हुई। बीसवी शताब्दी के पूवाध मे हिन्दी कविता अपन स्वाभाविक विकास की अवस्थाओ मे स होती हुई भाव और कला की जिस अवस्था विशेष को पहुँची, उसी को

---

१ हिंदी साहित्य का इतिहास—रामचद्र शुक्ल (आठवा सस्करण), पृष्ठ ६६९
२ आधुनिक साहित्य की प्रवत्तिया—नामवरसिंह (प्रथम सस्करण), पृष्ठ २३

डॉ० बलवीरसिंह 'रत्न' जी ने[1] छायावाद कहा है। इनका यह कथन विशेष विचारणीय प्रतीत होता है।

हिंदी साहित्य की इस छायावादी धारा के प्रस्फुटन में युगीन प्रवृत्तियों का हाथ रहना एक स्वाभाविक बात थी। पूँजीवाद का विकास और व्यक्तिवाद का उदय स्वच्छंदतावादी प्रवृत्तियों का आकर्षण, प्रथम महायुद्ध की विभीषिका, राजनीतिक क्षेत्र में महात्मा गांधीजी का आंदोलन, समाज में स्वातंत्र्य प्रेम की उत्कंठा, नयी पीढ़ी का पश्चिमी सभ्यता के संपर्क में आना तथा रोमांटिक कवियों से प्रभावित होना कवीन्द्र रवीन्द्र की गीतांजली को नोबल पुरस्कार मिलना, ब्रह्म समाज का आंदोलन तथा राजाराममोहन राय के क्रांतिकारी विचार, स्वामी दयानंद सरस्वती द्वारा कर्मकांडी, वैष्णव धर्म के विरोध में आंदोलन आदि विभिन्न सामाजिक तथा सांस्कृतिक परिस्थितियों के सामूहिक प्रभाव से छायावाद का उदय हुआ जिसे मध्यवर्गीय चेतना के विद्रोह का प्रतिरूप कहा जा सकता है। साहित्यिक क्षेत्र में रीतिकालीन प्रवृत्ति तथा द्विवेदीयुगीन इतिवृत्तात्मक पद्धति की प्रतिक्रिया के रूप में छायावादी काव्यधारा का जन्म हुआ। छायावाद की पृष्ठ भूमि का विवेचन करते हुए सुश्री महादेवी वर्मा ने लिखा है कि उस युग की कविता की इतिवृत्तात्मकता इतना स्पष्ट हो चली कि मनुष्य की सारी कोमल और सूक्ष्म भावनाएँ विद्रोह कर उठीं। स्थूल सौंदर्य की निर्जीव आवृत्तियों में थके हुए व्यक्तियों को फिर उन्हीं रेखाओं में बँधे स्थूल का न तो यथार्थ चित्रण रुचिकर हुआ न उसका रूढ़िगत आदर्श भाया। उन्हें नवीन रूपरेखाओं में सूक्ष्म सौन्दर्यानुभूति की आवश्यकता थी, जो छायावाद में पूर्ण हुई।[2] इससे साहित्यिक क्षेत्र की वह स्थिति स्पष्ट होती है जो छायावाद के उदय होने में उत्तरदायी रही। संक्षेप में छायावाद बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ में भारत में जो नव जागरण (रिनसाँ) हुआ उसी का काव्यात्मक रूपांतर है।

अँग्रेजी के रोमांटिसिज्म और हिंदी के छायावाद दो विभिन्न देशों और संस्कृतियों के आन्दोलन थे। उनका प्रादुर्भाव जिन परिस्थितियों में हुआ वे भी एक-दूसरे से भिन्न थीं। इसके अतिरिक्त अँग्रेजी रोमांटिक आंदोलन की भूमिका में फ्रांस की सफल क्रांति थी, किंतु छायावाद की भूमिका में १९२१ और १९२८ के असफल राष्ट्रीय आंदोलनों की तिक्त स्मृतियाँ थीं। यद्यपि स्वच्छंदतावाद और छायावाद दोनों में भी व्यक्ति स्वातंत्र्य, स्थूलबंधना तथा रूढ़ियों के विरुद्ध विद्रोह, सौंदर्य प्रेम आत्माभिव्यंजना आदि प्रवृत्तियाँ समान रूप से उपलब्ध होती हैं, फिर भी उन दोनों के बीच देश और काल की जो दूरी है उससे दोनों के स्वरूप में भी पर्याप्त अंतर आ चुका है। अतः छायावाद शब्द न तो रोमांटिसिज्म का केवल अनुवाद मात्र है और

---

१ हिंदी की छायावादी कविता का कला विधान—डा० बलवीरसिंह 'रत्न' (प्रथम संस्करण) पृष्ठ २५

२ महादेवी का विवेचनात्मक गद्य (प्रथम संस्करण) पृष्ठ ६४-६५

न अँग्रेजी रोमांटिक कविता का अंधानुकरण हो वह तो भारतीय संस्कृति से अनुप्राणित, भारतीय संस्कृति से अनुप्रेरित, प्रथम महायुद्ध के बाद नवीन मानवतावादी आदर्श पर आधारित हिन्दी की मौलिक काव्य धारा है। यूरोपीय रोमांटिक कविता का विद्रोह केवल सामंतवाद और उसका समर्थन करने वाली प्रवृत्तियों और रूढ़ियों के विरुद्ध था परन्तु छायावाद का विद्रोह सामन्तवाद के साथ विदेशी साम्राज्यवाद के विरुद्ध भी था। यूरोप में रोमांटिक कविता के साथ पूँजीवाद का जितना विकास हो चुका था उतना भारतीय पूँजीवाद का द्वितीय महायुद्ध के बाद तक भी नहीं हुआ था।[1] यूरोपीय पूँजीवाद उपनिवेशों पर आधारित था और भारतीय पूँजीवाद स्वयं साम्राज्यवाद से त्रस्त था। इसी कारण से भारतीय व्यक्ति स्वातन्त्र्य की भावना में यूरोपीय व्यक्तिस्वातन्त्र्य जैसी दृढ़ता नहीं थी। इसलिए छायावादी कविता उस अर्थ में क्रांतिकारी कविता नहीं थी जिस अर्थ में यूरोपीय रोमांटिक कविता थी। दोनों के विद्रोह के स्वरूप में अन्तर होने से उनके काव्य के स्वरूप में भी पर्याप्त अन्तर है।

हिन्दी के गणमान्य छायावादी कवियों के आत्मनिवेदनों तथा छायावादी कविताओं में प्राप्त रोमांटिसिज्म की विशेषताओं से यह स्पष्ट हो जाता है कि हिंदी के छायावादी कवि उन्नीसवीं शताब्दी के यूरोपीय रोमांटिसिज्म अर्थात् स्वच्छन्दतावाद से बहुत कुछ प्रभावित रहे। यह प्रभाव प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष दोनों रूपों में रहा। कुछ छायावादी कवि अंग्रेजी रोमांटिक कवियों की रचनाओं से प्रत्यक्ष प्रभावित हुए[2] तो कुछ कवि बंगला साहित्य या 'नवीन काव्यधारा' के माध्यम से।[3] छायावादी कविता में तथा स्वच्छन्दतावादी कविता में कुछ बातों में जो समानता दृष्टिगोचर होती है उसका एकमात्र कारण हिंदी कवियों द्वारा अंग्रेजी रोमांटिक कवियों का अनुकरण मात्र नहीं है। दोनों आन्दोलनों में उच्चवर्गीय समाज के संकीर्ण वातावरण से काव्य की रुद्ध आत्मा को मुक्त करने का प्रयत्न हुआ है और फलस्वरूप उसके लिए कल्पना और अनुभूति के मार्ग खोल दिये। ये दोनों आन्दोलन व्यक्तित्वप्रधान साहित्य के रूप थे।

डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी जी ने 'रोमांटिक साहित्य शास्त्र' की भूमिका में जो

---

१ छायावाद-युग—शम्भुनाथ सिंह (प्रथम संस्करण) पृष्ठ ४८

२ सुमित्रानंदन पंत जी ने 'पर्यालोचन' में इस तथ्य को स्पष्ट रूप से स्वीकार करते हुए लिखा है— 'पल्लव काल में मैं उन्नीसवीं शती के अंग्रेजी कवियों मुख्यतः शैली, वर्ड्सवर्थ, कीट्स और टेनिसन से विशेष रूप में प्रभावित रहा हूँ, क्योंकि इन कवियों ने मुझे मशीन युग का सौन्दर्य बोध और मध्यवर्गीय संस्कृति का जीवन स्वप्न दिया है।' आधुनिक कवि, भा० २ (चतुर्थ संस्करण), पृष्ठ १३

३ हिंदी काव्य पर आंग्ल प्रभाव—डा० रवींद्रसहाय वर्मा, (प्रथम संस्करण), पृष्ठ ४७

विचार व्यक्त किये हैं वे इस दृष्टि से विचारणीय प्रतीत होते हैं। वे लिखते हैं—*कविचित्त जब बाह्य परिस्थितियों के साथ समझौता नहीं कर पाता तब छन्दों की* भाषा अत्यंत प्रभावशाली होकर प्रकट होती है। आंतरिक सौन्दर्यानुभूति और बाह्य असुन्दर-सी लगने वाली परिस्थिति की टकराहट में जो विक्षोभ पैदा होता है वह सब दशा में काव्य की भाषा को मुखर बना देता है। उसमें सम्मूर्तन का रूप और आवेग का पक्ष लगा देता है—रोमांटिक साहित्य इसी प्रकार के कविचित्त के आंतरिक सौंदर्य के आदर्श और बाहरी जगत के एकदम भिन्न परिस्थिति के संघर्ष का परिणाम है।—वर्ड्सवर्थ, शेली, कीट्स आदि कवियों ने जिस मोहक सौंदर्य जगत का निर्माण किया है वह अपूर्व है। उसने हमारे देश के साहित्य को भी प्रभावित किया है।[1]

हिंदी के छायावादी कवि अँग्रेजी की स्वच्छन्दतावादी कविता से प्रभावित रहे केवल इसी के आधार पर समस्त छायावाद को रोमांटिसिज्म का अंधानुकरण मात्र मानना युक्तिसंगत न होगा। अँग्रेजी रोमांटिसिज्म से सबसे अधिक प्रभावित छायावादी कवि सुमित्रानंदन पंत का अद्यतन वक्तव्य इस दृष्टि से विशेष महत्त्वपूर्ण है। वे कहते हैं—छायावाद को रोमांटिक काव्य तक सीमित कर देना उसके मौलिक मूल्य के प्रति आँख मूंद लेना है। यह इस अर्थ में रोमांटिक कहा जा सकता है कि उसमें विचार विस्मय की भावना या स्वप्न है उसमें रागात्मक संवेदन, प्रणय तत्त्व तथा कल्पना का बाहुल्य और आवेग है या वह कला बोध की दृष्टि से परंपरागत नियमों के कूलों को डुबोकर स्वच्छंद सौंदर्य अभिव्यंजना भूमि की ओर अग्रसर होता है अथवा अभिव्यक्ति की प्रखरता के कारण उसमें कहीं-कहीं विषय वस्तु से अधिक संसक्त तथा *प्रमुख शैली अथवा रूप विधान हो गया है। किंतु छायावाद की कविता में इनसे कहीं* अधिक गंभीर निगूढ़ तथा व्यापक तत्वों की प्रधानता है।[2] वस्तुतः छायावाद नवीन और पुरातन पूर्व और पश्चिम यथार्थ और आदर्श का समन्वित तथा युग के अनुरूप भारतीय काव्य प्रणाली का विकसित निर्माणकारी रूप है। वह तो सहज, निर्मल और स्वाभाविक रूप से प्रवाहित होने वाली चेतना की प्रतिकृति है। हम इस बात को भूलना नहीं चाहिए कि छायावाद जिस रीतिकाल की प्रतिक्रिया मानी जाती है उस युग में भी घनानंद जैसे समर्थ कवि हुए जिन्होंने अपने मन के वास्तविक उद्गार प्रकट किये। घनानंद की काव्य कला में छायावादी काव्य की आभा एवं सौंदर्य भंगिमा विराजमान है।[3]

---

१ रोमांटिक साहित्य शास्त्र—डा० देवराज उपाध्याय (प्रथम संस्करण) भूमिका पृष्ठ २ ५ ६

२ छायावाद पुनर्मूल्यांकन—श्री सुमित्रानंदन पंत (सन १९६५ ई०) पृष्ठ ३४

३ *कला साहित्य और समीक्षा*—डा० भगीरथ मिश्र (सन १९६३ ई०) पृष्ठ २९२

स्वच्छन्दतावादी कवि वर्तमान परिस्थितियों के वैषम्य से असन्तुष्ट होकर प्रकृति ही में नहीं, अतीत, भविष्य कल्पना तथा अलौकिकता या आध्यात्मिकता के स्वप्नलोक में रमने के लिए अपनी मनोभूमि तैयार कर सकते हैं। स्वच्छन्दतावादी काव्य के विद्रोह में यथार्थवाद का केवल निषेधात्मक पक्ष ही दृष्टिगोचर होता है। विधेयात्मक अथवा रचनात्मक पक्ष नहीं। यदि छायावाद में भी केवल प्राचीन रूढ़ियों के विरुद्ध विद्रोह की ही अभिव्यक्ति होती तो निश्चय ही उसे स्वच्छन्दतावाद से अभिन्न माना जा सकता था, परन्तु छायावाद की मूल प्रवृत्ति प्रतिक्रियात्मक आकांक्षा और नवीन मानवतावादी आदर्शों की प्रेरणा से अनुप्राणित है। इससे स्वच्छन्दतावाद और छायावाद का अंतर अधिक स्पष्ट हो सकता है।

स्वच्छन्दतावाद के प्रभाव एवं उसकी कुछ विशेषताएँ देखकर जिस प्रकार छायावाद को स्वच्छन्दतावाद का वाचक माना जाता है उसी प्रकार छायावाद में रहस्यात्मक भावना को देखकर उसे रहस्यवाद से अभिन्न अथवा 'रहस्यवाद का स्वाभाविक विकास' भी माना जाता है। छायावाद के स्वरूप का सुस्पष्ट एवं सुबोध विवेचन करने वाले समीक्षकों में आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी जी का नाम विशेष उल्लेखनीय है। उन्होंने छायावाद के विद्रोह की व्यापकता की ओर संकेत करते हुए लिखा है—नयी छायावादी काव्य धारा का भी एक आध्यात्मिक पक्ष है, किन्तु उसकी मुख्य प्रेरणा धार्मिक न होकर मानवीय और सांस्कृतिक है। उसे हम बीसवीं शताब्दी की मानवीय प्रगति की प्रतिक्रिया भी कह सकते हैं।—आधुनिक परिवर्तनशील समाजव्यवस्था और विचार जगत में छायावाद भारतीय आध्यात्मिकता की नवीन परिस्थिति के अनुरूप स्थापना करता है।—छायावादी काव्य प्राकृतिक सौन्दर्य और सामाजिक जीवन परिस्थितियों से ही मुख्यतः अनुप्राणित है।[1]

विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि छायावाद न तो रहस्यवाद का वाचक है न स्वच्छन्दतावाद का। वह तो विविध प्रवृत्तियों का एक ऐसा समन्वित रूप है जिसमें स्वच्छन्दतावाद, रहस्यवाद या आत्मवाद, मानवतावाद, राष्ट्रीयता और सूक्ष्म सौन्दर्य बोध आदि नवजागरण युग की चेतना की का समय अभिव्यक्ति हुई है। अतः छायावादी कविता का समग्र स्वरूप देखने पर स्पष्ट होता है कि रोमांटिसिज्म के अतिरिक्त छायावाद पर वैष्णव गीति परंपरा, बंगला की नयी काव्यधारा, उर्दू की प्रेमपरक कविता, युग की स्वातंत्र्य प्रवृत्ति, विकसित एवं परिमार्जित खड़ी बोली के भाषा संस्कार आदि अनेक तत्त्वों का प्रभाव रहा है। अतः छायावाद को स्वच्छन्दतावाद से अभिन्न समझकर उसे छायावाद वाचक कहना समीचीन नहीं है।

---

१ आधुनिक साहित्य—नन्ददुलारे वाजपेयी पृष्ठ ३१९ २०

विचार व्यक्त किये है वे इस दृष्टि से विचारणीय प्रतीत होते हैं। वे लिखते हैं—कविचित्त जब बाह्य परिस्थितियो के साथ समझौता नही कर पाता तब छन्द की भाषा अत्यत प्रभावशाली होकर प्रकट होता है। आतरिक सौंदर्यानुभूति और बाह्य असु दर सी लगने वाली परिस्थिति की टकराहट म जो विक्षोभ पदा होता है वह सब देशा म काव्य की भाषा को मुखर बना देता है। उसम सम्मूतन का रूप और आवेग का पख लगा देता है—रोमाटिक साहित्य इसी प्रकार के कविचित्त के आतरिक सौदय के आदश और बाहरी जगत के एकदम भिन्न परिस्थिति क सघष का परिणाम है।—वडस्वथ, शेली कीटस आदि कविया ने जिस मोहक सौंदय जगत का निर्माण किया है वह अपूव है। उसने हमारे देश के साहित्य को भी प्रभावित किया है।[1]

हिंदी के छायावादी कवि अँग्रेजी की स्वच्छदतावादी कविता से प्रभाहित रहे केवल इसी के आधार पर समस्त छायावाद को रोमाटिसिज्म का अधानुकरण मात्र मानना युक्तिसगत न होगा। अँग्रेजी रोमाटिसिज्म से सबसे अधिक प्रभावित छायावादी कवि सुमित्रानन्दन पत का अद्यतन वक्तव्य इस दष्टि स विशेष महत्त्वपूर्ण है। वे कहते हैं—छायावाद को रोमाटिक काव्य तक सीमित कर देना उसके मौलिक मूल्य के प्रति आँख मूद लेना है। वह इस अथ मे रोमाटिक कहा जा सकता है कि उसमे किशोर विस्मय की भावना या स्वप्न है उसमे रागात्मक सवेदन, प्रणय तत्त्व तथा कल्पना का बाहुल्य और प्रवग है या वह कला बोध की दष्टि स परपरागत नियमो के कूलो को डुबोकर स्वच्छन्द सौदय अभिव्यजना भूमि की ओर अग्रसर होता है अथवा अभिव्यक्ति की प्रखरता के कारण उसम कहीं-कहीं विषय वस्तु से अधिक सशक्त तथा प्रमुख शली अथवा रूप विधान हो गया है। किंतु छायावाद की कविता मे इनसे कहीं अधिक गभीर निगूढ तथा व्यापक तत्त्वा की प्रधानता है।[2] वस्तुत छायावाद नवीन और पुरातन पूव और पश्चिम, यथाथ और आदश का समन्वित एव युग के अनुरूप भारतीय काव्य प्रणाली का विकसित निमाणकारी रूप है। वह तो सहज निमल और स्वाभाविक रूप से प्रवाहित होने वाली चेतना की प्रतिध्वनि है। हमे इस बात को भूलना नही चाहिए कि छायावाद जिस रीतिकाल की प्रतिक्रिया मानी जाती है उस युग म भी घनानद जस समथ कवि हुए जिन्होने अपने मन क वास्तविक उद्गार प्रकट किये। घनानद की काव्य कला म छायावादी काव्य की आभा एव सौदय भगिमा विद्यमान है।[3]

---

१ रोमाटिक साहित्य शास्त्र—डा० देवराज उपाध्याय (प्रथम सस्करण) भूमिका पृष्ठ २ ५ ६

२ छायावाद पुनमूल्याकन—श्री सुमित्रानदन पत (सन १९६५ ई०), पृष्ठ ३४

३ कला साहित्य और समीक्षा—डा० भगीरथ मिश्र (सन १९६३ ई०) पृष्ठ २८२

स्वच्छन्दतावादी कवि वर्तमान परिस्थितियो के वैषम्य से असतुष्ट होकर प्रकृति ही मे नही, अतीत, भविष्य कल्पना तथा अलौकिकता या आध्यात्मिकता के स्वप्नलोक मे रमन के लिए अपनी मनोभूमि तैयार कर सकते हैं। स्वच्छन्दतावादी काव्य के विद्रोह म यथार्थवाद का केवल निषेधात्मक पक्ष ही दृष्टिगोचर होता है। विधेयात्मक अथवा रचनात्मक पक्ष नही। यदि छायावाद म भी केवल प्राचीन रूढ़ियो के विरुद्ध विद्रोह की ही अभिव्यक्ति होती तो निश्चय ही उसे स्वच्छन्दतावाद से अभिन्न माना जा सकता था, परतु छायावाद की मूल प्रवृत्ति प्रतिक्रियात्मक आकाक्षा और नवीन मानवतावादी आदर्शों का प्रेरणा से अनुप्राणित है। इसस स्वच्छन्दतावाद और छायावाद का अतर अधिक स्पष्ट हो सकता है।

स्वच्छन्दतावाद के प्रभाव एव उसकी कुछ विशेषताएँ देखकर जिस प्रकार छायावाद का स्वच्छन्दतावाद का वाचक माना जाता है उसी प्रकार छायावाद मे रहस्यात्मक भावना को देखकर उसे रहस्यवाद से अभिन्न अथवा 'रहस्यवाद का स्वाभाविक विकास' भी माना जाता है। छायावाद के स्वरूप का सुस्पष्ट एव सुबोध विवेचन करने वाले समीक्षको मे आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी जी का नाम विशेष उल्लेखनीय है। उन्होंने छायावाद के विद्रोह की व्यापकता की ओर सकेत करते हुए लिखा है—नयी छायावादी काव्य धारा का भी एक आध्यात्मिक पक्ष है किंतु उसकी मुख्य प्रेरणा धार्मिक न होकर मानवीय और सास्कृतिक है। उस हम बीसवी शताब्दी की मानवीय प्रगति की प्रतिक्रिया भी कह सकते हैं।—आधुनिक परिवर्तनशील समाजव्यवस्था और विचार जगत म छायावाद भारतीय आध्यात्मिकता की नवीन परिस्थिति के अनुरूप स्थापना करता है।—छायावादी काव्य प्राकृतिक सौन्दर्य और सामयिक जीवन परिस्थितियो से ही मुख्यत अनुप्राणित है।[1]

विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि छायावाद न तो रहस्यवाद का वाचक है न स्वच्छन्दतावाद का। वह तो विविध प्रवृत्तियो का एक ऐसा समन्वित रूप है जिसम स्वच्छन्दतावाद रहस्यवाद आध्यात्मवाद, मानवतावाद राष्ट्रीयता और सूक्ष्म सौन्दर्य बोध आदि नवजागरण युग की चेतना की का समग्र अभिव्यक्ति हुई है। अत छायावादी कविता का समग्र स्वरूप देखने पर स्पष्ट होता है कि रोमांटिसिज्म के अतिरिक्त छायावाद पर वष्णव गीति परपरा बगला की नयी काव्यधारा, उर्दू की प्रेमपरक कविता, युग की स्वातत्र्य प्रवृत्ति, विकसित एव परिमार्जित खड़ी बोली के भाषा-सस्कार आदि अनेक बातो का प्रभाव रहा है। अत छायावाद को स्वच्छन्दतावाद से अभिन्न समझकर उसे छायावाद वाचक कहना समीचीन नही है।

---

१ आधुनिक साहित्य—नन्ददुलारे वाजपेयी पृ ३ ३१९ २०

२२ | ठेले पर हिमालय और धर्मवीर 'भारती'

हिंदी साहित्य के आधुनिक युग में भारती का अपना विशेष स्थान है। साहित्य की विविध विधाओं की विधायिनी शक्ति उनमें विद्यमान है। परंपरागत पिटी पिटाई लकीर के फकीर बनना संभवतः 'भारती' का धर्म नहीं है। वे तो युगानुसार साहित्य क्षेत्र में सदैव 'प्रगति' तथा 'प्रयोग' कर उनमें नवीनता तथा स्वतंत्र निर्माण करना चाहते हैं। जिस तरह मँजा हुआ संगीतकार प्रचलित सरगम के सात स्वरों पर ही युगानुकूल असंख्य गीतों की रचना करता है अथवा कोई सिद्ध कलाकार सप्तरंगों के विविध मिश्रणों से अनंत रंग की झलकियाँ दिखा सकता है, उसी तरह भारती की विधायिनी प्रतिभा उपन्यास, कहानी, नाटक, एकांकी, निबंध, समीक्षा तथा काव्य इन परंपरागत सात विधाओं के समुचित मिश्रण के प्रयोग से 'सूरज का सातवाँ घोड़ा' तथा 'अंधायुग' जैसी अनोखी कृतियों का प्रणयन कर चुकी है।

धर्मवीर 'भारती' हिंदी की उन उठती हुई प्रतिभाओं में से हैं जिन पर हिंदी का भविष्य निर्भर करता है और जिन्हें देखकर हम कह सकते हैं कि हिंदी उस अंधियार अंतराल को पार कर चुकी है जो इतने दिनों से मानो अंतहीन दीख पड़ता था। प्रतिभाएँ और भी हैं कृतित्व औरों का भी उल्लेख्य है पर उनमें धर्मवीर जी में एक विशेषता है। वे केवल अच्छे परिश्रमी, रोचक लेखक ही नहीं हैं, वे नयी पौध के सबसे मौलिक लेखक हैं। अथक श्रम-सामर्थ्य और अध्यवसाय, बहुमुखी क्रियाशीलता, प्राचुर्य, चिरजाग्रत चिर निर्माणशील कल्पना, सतत जिज्ञासा और पर्यवेक्षण, देशकाल या युग-सत्य के प्रति सजगता, परंपरा-ज्ञान, मौलिकता, आत्मविश्वास और गहरी विनयशीलता[1] आदि गुणों का एक अपूर्व समन्वय भारती के व्यक्तित्व में सन्निहित है। यदि इनमें हास्य भी मिल जाता तो कहना ही क्या? ऐसे प्रतिभावान व्यक्ति का दिसम्बर उन्नीस सौ छब्बीस में पुनीत प्रयाग क्षेत्र में जन्म लिया, जहाँ त्रिवेणी संगम हो चुका है। शिक्षा दीक्षा भी वहीं के पीठ में हुई। सन १९५५ में इलाहाबाद विश्वविद्यालय ने इन्हें डॉ० फिल० की उपाधि देकर सम्मानित किया।

---

१ सूरज का सातवाँ घोड़ा (भूमिका)

स्वर्ण अग्नि में ही अधिक कातिमान दिखायी देता है, लगभग वही स्थिति साहित्यकार की भी होती है। अतः यदि यह कहा जाए तो असगत न होगा कि नव-नवोन्मेषशालिनी प्रतिभा का जन्म प्राय सघर्ष में हुआ करता है। पिता की मृत्यु के उपरान्त मामा के सरक्षण तथा प्रोत्साहन के मिलने पर भी भारती को तीखे जीवन-सघर्ष का सामना करना पडा ही था। सभवत उसी जीवन सघर्ष में भारती की प्रतिभा जाग उठी होगी। सन १९४२ के आन्दोलन की असफलताएँ और बगाल के अकाल की भीषणता से 'भारती' के कोमल हृदय को अत्यधिक पीडा हुई और यही पीडा एकस्मात् शब्दो का आकार धारण करने लगी जिसे भावनाओ ने अधिक प्राणवान बना दिया।

उनके जीवन की प्रथम-कृति 'तारा और किरण' है। गरमियो की एक रात में भारती की नींद उचट गयी और उस गहरी नीली रात में ध्रुव के तारे को देख कर अचानक उसके मन पर कुछ ऐसा प्रभाव हुआ जिससे भारती की उद्वेलित भावनाओं ने प्रथम कृति को जन्म दिया। सकोची स्वभाव के कारण तथा कथाकृति भी पहली होने से उन्होने उसे किसी को न दिखाते हुए छुपा ही रखा। उनके एकमात्र साहित्यिक सलाहकार गोपेश अग्रज ने तत्कालीन प्रसिद्ध 'तरुण' पत्रिका में उसे प्रकाशित करने की सलाह दी। सौभाग्य से उनकी दो कहानियाँ उक्त पत्रिका में प्रकाशित भी हुई परन्तु काफी काट छाट के बाद[1] 'कलाकार धरती का नियामक होता है आदि विचारो के जनक दोनो जन कवि से प्रभावित भारती का भावुक मन इस बात को बरदाश्त न कर सका। भारती के प्रिय लेखक थे— शेले आस्कर वाइल्ड, थामस हार्डी, प्रसाद और शरत[1]—इनका प्रभाव भारती के साहित्य में परिलक्षित होता है।

साधारणत साहित्यकार अपनी रुचि के अनुरूप कार्य क्षेत्र का चयन करता है और उसी क्षेत्र के अन्तर्गत वह अपनी रचनाओं का सृजन करता रहता है इसलिए कोई उपन्यासकार के रूप में प्रसिद्धि पाता है तो कोई नाटककार के रूप में। प्रसाद जैसे अपवादात्मक बहुत कम व्यक्ति होते हैं जो साहित्य के सभी क्षेत्रो में आशातीत सफलता पाते हैं। धर्मवीर भारती की लगभग यही स्थिति है। उनकी ग्रथ-सपदा में विषयो तथा शैलियो का वैविध्य दृष्टिगोचर होता है। जहा एक ओर चाँद और टूटे लोग तथा 'सूरज का सातवाँ घोडा' जैसे कथासग्रह हैं वहाँ प्रगतिवाद तथा मानव-मूल्य साहित्य', ठेले पर हिमालय' जैसे निबध तथा आलोचनात्मक लेखो के सग्रह भी हैं। एक ओर 'नदी प्यासी थी' जैसा एकाकी नाटक सग्रह है तो दूसरी ओर 'गुनाहो का देवता' जैसा अत्यत लोकप्रिय तथा आकर्षक उपन्यास भी है। सिद्ध साहित्य जैसे सैद्धान्तिक विषयो पर अनुसधान भी मिलता है तो कहीं आस्कर वाइल्ड की कहानियाँ तथा देशान्तर में भारती की अनुवाद-क्षमता के दर्शन होते हैं। 'देशान्तर' वह ग्रथ है बीसवी सदी के इक्कीस पाश्चात्य देशो के एक सौ तिरसठ कवियो का आधुनिक

१ चाँद और टूटे हुए लोग (भूमिका)

कविताओं का जो हिन्दी रूपान्तर भारती ने किया है वह धर्मवीर 'भारती' की ज्ञान पिपासा का द्योतक है। श्री लक्ष्मीकांत वर्मा के साथ 'निकष' जैसी नव-लेखन का पुरस्कार करने वाली पत्रिका में उप संपादक तथा प्रसिद्ध हिंदी साप्ताहिक 'धर्मयुग' के प्रधान संपादक के रूप में आपकी यह ज्ञान जिज्ञासा उन्मुक्त हुई है। इन सभी विधाओं के साथ ठंडा लोहा, कनुप्रिया, सातगीत वर्ष, अंधा युग जैसे काव्य ग्रंथों में भारती का कवि हृदय खिल उठा है।

अंधा युग' में भारती की उर्वरा शक्ति चरम सीमा तक पहुँची हुई सी दिखायी देती है। यह नये ढंग का दृश्य काव्य है जो २८ अक्तूबर, १९६१ को प्रयाग में रंग-मंच पर प्रथम बार सफलतापूर्वक खेला गया[1]। इसका कथानक महाभारत के उत्तरार्ध की घटनाओं पर आधारित है। कुछ घटनाएँ और पात्र स्वकल्पित हैं तथा प्रारम्भ और अंत की प्राचीन पद्धति को नये परिवेश में उपस्थित किया है। लोक-नाट्य की परंपरा के अनुसार दृश्य परिवर्तन और अंक परिवर्तन में कथा गायन की योजना की पद्धति का प्रयोग इसमें किया गया है। मुक्तछंदों में संवाद वक्तगंधी गद्य प्रयोग, परिवर्तित छंद योजना, अभिनेता को मार्ग दर्शन आदि बातों ने कृति का सौंदर्य बढ़ाया है। महाभारत के अठारहवें दिन से कृष्ण की मृत्यु तक के घटनाकाल की पार्श्व भूमि पर आधुनिक समस्याओं की झलक दिखाते हुए युद्धोपरांत जर्जर, कुंठित, अर्थहीन मानवता के कारण करुण रूप की सजीव व्याख्या इसमें की गयी है। इस तरह साहित्य के सभी क्षेत्रों में भारती द्वारा नूतनता निर्माण करने का प्रयत्न किया गया है।

ठेले पर हिमालय' भी धर्मवीर भारती की एक ऐसी रचना है जिसमें गद्य की विविध शैलियों के दर्शन हो जाते हैं। अतः भारती की गद्य शैली के लिए इसी पुस्तक से उदाहरण देना अनुचित न होगा। यात्रा विवरण, डायरी संस्मरण, करीकेचर व्यंग श्रद्धांजलि आत्मचिंतन इन शीर्षकों में समस्त लेखों का वितरण हो चुका है। प्रत्येक लेख में कुछ न कुछ विशेषता स्पष्ट रूप से दिखायी देती है। वैसे तो प्रत्येक लेख विचारणीय एवं मननीय है जिसपर विस्तार में विवेचन किया जा सकता है। इस लेख में ठेले पर हिमालय की शैलीगत सौंदर्य' दृष्टि से ही मुख्यतः देखा जाएगा। समस्त लेखों की शैलियों में वैविध्य होते हुए भी विचारों का सूत्र अधिकांश रूप से अंत तक एक ही दिखायी देता है। 'Stile is the man वाली प्रसिद्ध उक्ति के अनुसार ठेले पर हिमालय' की विभिन्न शैलियों में लेखक के समग्र व्यक्तित्व के अनेक पहलू दृश्यमान हो जाते हैं।

प्रत्येक लेख का प्रारंभ वैशिष्ट्यपूर्ण रीति से किया गया है। साधारणतः अपने गत जीवन की किसी घटना या अन्य प्रसंग तथा उदाहरण का उल्लेख कर प्रथमतः सामान्य बातों की हल्की सी चर्चा छेड़ दी जाती है। और उसी चर्चा के प्रवाह में लेखक पाठक को अपने मुख्य विवेच्य विषय की ओर ले जाता है। लेखक की यह

१ धर्मयुग १७ सितंबर १९६१

कलात्मकता तथा व्यवहार-कुशलता लगभग सभी लेखों में पायी जाती है जिसमें नव लेखन से लेकर नूतन काव्यशास्त्र जैसे विषयों का आकर्षण बढ गया है। साहित्यिक डायरी' के पृष्ठों में वेंकटेस राज्य और रंगमंच, होना और करना पुरानी प्रतिमाएँ नये प्रतिमान तथा अनास्था जैसे विचार प्रधान लेखों में सामयिक तथा तत्कालीन विभिन्न संदर्भों तथा उदाहरणों का समुचित 'प्रयोग' कर प्रगतिवादी या नवलेखन की भूमिका भिन्न भिन्न रूपों में प्रस्तुत करने का स्तुत्य प्रयत्न किया गया है। विवेच्य विषयों में उद्भूत अनेक समस्याओं का तर्कपूर्ण विवेचन करते हुए लेखक की रुचि अंत में साहित्यिक चर्चा में ही अधिक रमती हुई दिखायी देती है।

सामंती मनोवृत्ति में पले हुए कवियों की परंपरागत सौंदर्य-दृष्टि और नए साहित्यिक की सौंदर्य-दृष्टि में अंतर राजतंत्रों में साहित्यकारों के प्रवेश से उनकी कल्पनाओं का होनेवाला विनाश, बुद्धि जीवी साहित्यिकों को प्रश्रय देकर उनकी बुद्धि का प्रचारपरक उपयोग करने की शासकों की प्रवृत्ति, मशीन की सभ्यता में विवेकपूर्ण आत्मबल युक्त मनुष्य की स्थिति, मार्क्सवादी तथा गांधीवादी सांचे में ढले हुए साहित्य का स्वरूप नये लेखकों का उत्तरदायित्व आदि सैकडों महत्त्वपूर्ण समस्याओं की सोदाहरण चर्चा लेखक ने ऐसी शैली में की है जिससे गंभीर विषयों की ओर भी पाठक का चित्त सहज आकर्षित होता है।

लेखक स्वयं एक कवि है अतः जहां कहीं उनके अनुकूल भूमि मिलती है वहां भारती का कवि रूप झांक उठता है। विशेषतः वर्णनात्मक लेखों में उनकी लेखनी गद्य लिखते हुए भी काव्य की रमणीयता निर्माण कर चुकी है। प्रकृति के प्रांगण में, हिमराज की गोद में निसर्ग के अलौकिक सौंदर्य की आभा से भारती की गद्य वाणी कविता सी बनी हुई दिखायी देती है। कौसानी की पर्वतमालाओं को देखकर भारती की भावना शब्द रूप में उन्मुक्त हुई जो कवि हृदय का परिचय करा देने में पर्याप्त है— पचासों मील चौड़ी यह घाटी हरे मखमली कालीनों जैसे खेत सुंदर गेरू की शिलाएँ काटकर बने हुए लाल लाल रास्ते, जिनके सफेद सफेद पत्थरों की कतार और इधर उधर से आकर आपस में उलझ जाने वाली बेले की लडियां सी नदियाँ। मनमें बेसाख्ता यही आया कि इन बेलों की लडियां को उठाकर कलाई में लपेट लूं, आंखों से लगा [illegible]। अकस्मात हम एक दूसरे लोक में चले आये थे। इतना सुकुमार, इतना सुंदर इतना सजा हुआ और इतना निष्कलंक कि लगा इस धरती पर तो जूते उतारकर पाँव पोछकर आगे बढना चाहिए।[1]

इसी प्रकार कूर्मांचल के वर्णन प्रसंग में भी भारती के 'गद्य' ने कविता का वस्त्र धारण किया है—'हिमालय की मुग्ध हिमवती घाटियां बादल और धुंधलके में छिपी हुई हैं जो सिर्फ एक शाम को अकस्मात चमक उठी थी। बादलों का अवगुंठन

१ ठेले पर हिमालय पृ० ६

हटाकर रामगढ़ के ऊपर से बर्फ के फूलों के धनुष्य की तरह अर्द्ध वृत्ताकार फैल गयी थी।[1] इसी तरह समस्त लेखों में वर्णनात्मक प्रसंगों पर लेखक का कवित्व प्रकट हुए बिना न रह सका। 'नूतन काव्यशास्त्र' जैसा लेख भी मिलता है जिसमें दिनकरजी की 'उर्वशी' नाम के गद्य खंड की शैली में अपनापन भरते हुए नये ढंग से उपस्थित करने का विनयपूर्ण प्रयत्न किया है। रामजी की चींगी गपड़ा का शोर तो एक अजीब ढंग का विनोदपूर्ण करीकेचर है। व्यंग्यपूर्ण लेखों में भारती की लेखनी बड़ी तेज चलती हुई दिखायी देती है। आत्म व्यंग्य के अन्तर्गत लिखा हुआ 'अपनी ही मौत पर' लेख तो भारती की कल्पना शक्ति का अच्छा परिचय करा देता है।

लेखक की निरीक्षण शक्ति भी बड़ी सूक्ष्म दिखायी देती है। चित्रकार सेनका खींचा हुआ शब्द चित्र द्रष्टव्य है— जैसा दुबला शरीर पतला सांवला चेहरा, एमिल जोला सी दाढ़ी, ढीला-ढाला पतलून अटपटी चाल थी बाबू साहब की। यह दुबला-पतला मुखी जैसा सिकुड़ा शरीर और उस पर आपका झूमते हुए आना आदि।[2] लेखक के अध्ययन ज्ञान तथा संदर्भों से उसकी सूक्ष्मता परिलक्षित होती है। भारतीय साहित्य के साथ साथ लेखक की विदेशी साहित्य की अध्ययनशीलता समय समय पर प्रयुक्त उदाहरणों में पायी जाती है। जैसे वर्ड्सवर्थ की लूसी की तरह चिड़िया का झरना के संगीत में पागल एमिल जोला सी दाढ़ी जर्मन नाटककार प्रेन्नरा 'जनास्था' की चर्चा में दिया गया उदाहरण, आदि।

भारती स्पष्ट वक्ता होने से उनके द्वारा दिये गए विधान अधिक समर्थ बलवान एवं पुष्ट हो चुके हैं। वे अपना विचार समझाने के लिए अनेक शैलियों तथा पद्धतियों का प्रयोग करते हैं। कभी एक सफल अध्यापक की भांति विभिन्न पोषक उदाहरणों का प्रयोग करते हैं तो कभी विरोधक की भूमिका लेकर स्वयं ही अपने सिद्धान्त एवं विचार प्रणाली के आपादित विरोधी प्रश्नों को उठाते हुए उनके उत्तर भी विस्तार से देते हैं जिससे समस्या के दोनों पक्षों का विवेचन अपने आप हो जाता है। नयी साहित्य दृष्टि की विवेचना करते करते लेखक बीच ही में पूछ बैठते हैं 'हो सकता है आप यहाँ मुझे रोककर पूछना चाहें—'क्यों भाई, जो कुछ विरोध के बावजूद बढ़ता चला जाए वह सही ही होता है यह कोई तर्क नहीं है। बहुत रोकथाम करने के बावजूद महामारी फैलती चली जाती है। तो यह नया साहित्य दृष्टि भी सवाल आपका तो बहुत उचित है और आपने तो बड़ी सज्जनतापूर्वक पूछा। मैं जानता हूँ कि आप सचमुच समझना चाहते हैं कि आखिर नया लेखक क्या उन चीजों को नहीं उठाता जिसे आप अभी तक सुन्दर कहते आए हैं।'[3] इस उदाहरण से लेखक की शैली की नूतनता स्पष्ट होती है।

---

१ ठेले पर हिमालय, पृष्ठ ११

२ वही, पृ० ४

३ वही, पृ० ८३

पुरानी जर्जरित और मनुष्य के विकास के लिए विघातक रूढ़ियों तथा परम्पराओं के प्रति भारती के रग रग में विद्रोह का उद्वेलन दिखायी देता है। परन्तु यहाँ पर बात विशेष उल्लेखनीय है कि भारती उन लोगों में से नहीं दौरा पड़ते जो भावना के आवेग में बुद्धि का संतुलन खो देते हैं। अपनी बात को समझाते हुए विरोधी विचारकों के प्रति सहानुभूति का भाव प्रकट करते हुए सदैव अपना 'विनम्र मत' प्रस्तुत करते हैं। भारती की लेखनी पर भारतीय एवं पाश्चात्य दोनों साहित्यकारों का प्रभाव सम्मिलित रूप में दिखायी देता है और वे साहित्यकार भी वर्ड्सवर्थ [illegible], थॉमस हार्डी तथा प्रसाद और [illegible] जैसे।

धर्मवीर भारती की भाषा पर किसी साम्प्रदायिकता की मुहर लगी हुई नहीं दिखायी देती। हिन्दी भाषा में अपने विचार अभिव्यक्त करते समय प्रसंगानुकूल अनेक देशी विदेशी शब्दों की योजना की गयी है। उनकी भाषा न केवल संस्कृतनिष्ठ है न केवल उर्दूनिष्ठ। उसमें संकुचितता नाम मात्र को भी नहीं है। भाषा के प्रति अत्यन्त उदार तथा समन्वयशील दृष्टिकोण रखते हुए आवश्यकतानुसार संस्कृत, अरबी, फारसी, अंग्रेजी तथा देशज शब्दों का प्रयोग भारती ने अपनी समस्त रचनाओं में किया है। यहाँ कहीं निर्वसन, उदग्रीव, आकार, अवगुंठन, अधैर्य आदि संस्कृत के तत्सम शब्दों के बाहुल्य से शैली में कुछ गम्भीरता आ गया है तो कहीं कहीं दस्तूर, शिकवा, राहत, ग़मगीन, इल्हाम आदि अरबी फारसी शब्दों के प्रयोग से भाषा में चटपटापन भी आया है। अपने लेखन में कई स्थलों पर भारती ने ठेठ अंग्रेजी शब्दों का उपयोग आवश्यकता से अधिक किया है, जैसे पर्सपेक्टिव, फेथ, कस्टम, करिकेचर, पैटर्न पब्लिसिटी, प्रेजुडिस, फौरमेशन आदि। धर्मवीर 'भारती' उन लेखकों में से हैं जो नवीनता तथा उदारतावादी विचारधारा के पुरस्कर्ता हैं। अतः उन्होंने अन्य भाषा के शब्दों को भी निःसंकोच भाव से ग्रहण किया है।

भारती की समस्त गद्य रचनाओं में उनके व्यक्तित्व के सभी पहलुओं के दर्शन हो जाते हैं। उनकी कृतियों में कविता का माधुर्य, कहानी का चातुर्य, नाटक की अभिनेयता, निबंध की ध्येयता, सभी रूप की गुणवत्ता तथा संपादन की कुशलता आदि का सुन्दर समन्वय हो चुका है।

२३ | मोडी लिपि और उसकी व्युत्पत्ति

भारतीय शीघ्रलिपियों में 'मोडी' लिपि का भी एक विशिष्ट स्थान है। कहा जाता है कि इस लिपि के जन्मदाता देवगिरि के यादव राजाओं के दरबार के प्रसिद्ध पंडित हेमाद्रि उर्फ हेमाडपंत थे। सन १२६० ई० में हेमाद्रि यादव राजा के दरबार में रहे थे[1]। इसके सम्बन्ध में एक किंवदन्ती प्रचलित है कि हेमाद्रि मोडी लिपि लंका से महाराष्ट्र ले आये। इसका दूसरा नाम पिशाच लिपि भी बताया जाता है[2]। इतिहासाचार्य स्व० राजवाडे ने इस बात का खण्डन करते हुए लिखा है—देवगिरि के यादव राजा का साम्राज्य दक्षिण में कन्याकुमारी तक फैला हुआ था। सम्भवतः कन्याकुमारी अथवा रामेश्वर में शासकीय काम से हेमाद्रि गये हों और वहीं से लंका की यात्रा भी कर आये हों। लंका से लौट आने पर शीघ्र ही उन्होंने समस्त दफ्तर की कारवाई मोडी में करने की आज्ञा दी थी और इसीलिए जान पड़ता है कि लोगों ने समझ लिया हो कि हेमाद्रि लंका से मोडी लिपि को ले आये थे। वस्तुतः तत्कालीन सिंहली भाषा का और मोडी का कुछ भी सम्बन्ध नहीं था। इस बात का कोई प्रमाण तक उपलब्ध नहीं होता। सिंहली में न मोडी का प्रचार कभी था न अब है। इसके अतिरिक्त मोडी लिपि देवनागरी से भिन्न द्रविड भाषाओं के अक्षरों से भी तो नहीं बनायी गयी। अतः हेमाद्रि द्वारा लंका से मोडी का लाया जाना यह दंतकथा मात्र है। इसमें कोई प्रामाणिक तथ्य नहीं है। उनका कथन है कि फारसी में 'नस्ख' और 'शिकस्ता' नामक दो लिपियों का प्रचलन है। नस्ख लिपि में लिखित अक्षर स्पष्ट तथा सुपाठ्य होते हैं। 'शिकस्ता' यह फारसी की शीघ्रलिपि है। इसमें अक्षरों को विशिष्ट ढंग से मोडकर लिखा जाता है। 'मोडी' शब्द शिकस्ता शब्द का अनुवाद है। हेमाद्रि ने 'शिकस्ता' लिपि की पद्धति पर मोडी लिपि का निर्माण तथा प्रचलन किया[3]।

---

१ ऐतिहासिक प्रस्तावना (खंड ८, सन १९२८ ई०), पृ० ३७६

२ महाराष्ट्रीय ज्ञानकोश, विभाग १ (१९२६ ई०), पृ० २१८

३ ऐतिहासिक प्रस्तावना (वही), पृ० ३७७

इसके अतिरिक्त कुछ विद्वान हेमाद्रि को 'मोडी' का जनक मानने के पक्ष में नहीं है। श्रीमान गुप्ते के मतानुसार मोडी लिपि का सर्वप्रथम प्रचलन बालाजी आवजी चिटणीस ने छत्रपति शिवाजी महाराज भोसले के समय प्रारम्भ किया था।[1] स्वर्गीय चांदोरकर मोडी की व्युत्पत्ति अशोक मौर्य की मौर्यी लिपि से मानते हैं।[2] अपने मत का समर्थन करने के लिए उन्होंने देवनागरी मौर्यी मोडी लिपियों की तुलना कर मोडी और मौर्यी में समानता दिखाने का प्रयत्न किया है। मौर्यी लिपि में ऋ, ऌ ए स्वर नहीं है मोडी में भी इनको स्थान नहीं है। जिस प्रकार 'मौर्यी' में ह्रस्व, दीर्घ का कोई भेद नहीं माना जाता उसी प्रकार 'मोडी' में भी ह्रस्व दीर्घका अन्तर नहीं माना जाता। संस्कृत में सस्वर व्यंजन और अस्वर व्यंजन का एक महत्वपूर्ण भेद है। परन्तु मोडी और मौर्यी अथवा अशोक लिपि में वैसा भेद नहीं है। मोडी लिपि में अपूर्ण वर्णों की व्यवस्था नहीं है। इसलिए देवनागरी की भाँति संयुक्त वर्ण ठीक से लिखना संभव नहीं होता। अशोक लिपि अथवा मौर्यी लिपि में भी यह स्थिति है।[3] निष्कर्ष रूप में उन्होंने लिखा है कि देवनागरी और मोडी दोनों भिन्न लिपियाँ हैं। देवनागरी संस्कृत भाषा की और मोडी प्राकृत भाषा की लिपि होगी।[4] श्रीमान पाण्ड्य ने मोडी की उत्पत्ति कथी अथवा कुटिल लिपि से मानी है। अपने मत की पुष्टि के लिए उन्होंने कैथी लिपि और मोडी लिपि में समानता दिखाते हुए लिखा है कि जिस प्रकार कथी में संस्कृत की संपूर्ण वर्णमाला का प्रयोग नहीं किया जा सकता, वैसे ही मोडी में भी नहीं किया जा सकता। कथी और मोडी लिपि के अ, ख, थ वर्ण नागरी से पूर्णतः भिन्न है।

विवेचन से स्पष्ट होता है कि मोडी लिपि के प्रवर्तक तथा उसकी व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में विवाद है। हम उस पर संक्षेप में विचार करेंगे। श्रीमान गुप्ते का कथन व्यक्तिगत उपलब्ध सामग्री के आधार पर था। बहुत प्रयास करने पर भी उन्हें शिवकाल के पूर्व मोडी लिपि में लिखित एक भी पत्र अथवा हस्तलेख प्राप्त नहीं हुआ। इसलिए उन्होंने मोडी के प्रवर्तक बालाजी आवजी चिटणीस को मानकर मोडी का प्रचार वहीं से स्वीकार किया। इनका खण्डन करते हुए श्री राजवाडे ने ज्ञानेश्वरी की कुछ पंक्तियों का हवाला देते हुए यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि मोडी लिपि का प्रचार हेमाद्रि के समय से था। ज्ञानेश्वरी की वे पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—

> हे बहू असो पंडितू घरंजु बालकाचा हातू।
> बोला सेटू वेगवतू आपणचि।

---

१ द मोडी कॅरेक्टर एण्ड इट्स ओरिजन (सन १९०६ ई०) श्री बा० आ० गुप्ते, पृ० १

२ आर्य लिपि—गो० का० चांदोरकर, पृ० ७३

३ इंडियन एंटिक्वेरी ग्रंथ—३३ परिशिष्ट, पृ० ३७ ३८

४ आर्य लिपि—गो० का० चांदोरकर पृ० ६३

५ ज्ञानेश्वरी, अध्याय १३

इन पत्रियो म प्राप्त, 'वेगवतू' शब्द तो उन्होने मोडी का वाचक माना और यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि मोडी का प्रचलन चांगदेव के समय म जो हेमाद्रि के समकालीन थे, होता रहा। श्रीमान राजवाडे का यह कथन प्रमाणो की अपेक्षा तक पर अधिक समाश्रित है। 'वेगवतू' शब्द को मोडी का वाचक मानना उन्ही की कल्पना है। यदि वे समकालीन अथवा शिव काल पूव मोडी म लिखित कोई प्रमाण प्रस्तुत करते तो अधिक उचित होता। किसी अनुसधान में मोडी लिपि म लिखित कुछ प्रामाणिक पत्र उपलब्ध हुए ह जो शिवाजी के लगभग १४० वष पूव के हैं[१]। इससे इतना तो निश्चित होता है कि मोडी लिपिका प्रचलन शिवाजी से पूव १४० वर्षों स यहाँ था। अत मोडी लिपि के प्रवतक बाळाजी आप्पाजी चिटणीस कदापि नहीं हो सकते। अब प्रश्न रहा कि हेमाद्रि के पूव मोडी लिपि का प्रचलन था अथवा नही?

कुछ पाश्चात्य विद्वानो ने[२] मोडी लिपिकी व्युत्पत्ति 'मूर' लोगो से मानी है। वस्तुत यह व्युत्पत्ति भ्रममूलक तथा निराधार है। मोडी शब्द अंग्रेज लोगो ने अपने उच्चारण के अनुसार लिखते समय ड के स्थान पर 'र' का प्रयोग किया जिससे वह शब्द 'मोडी' के स्थान पर, 'मोरी' हो गया और यह मोरी शब्द मूल मानकर भाषा विज्ञान की दृष्टि से उसकी व्युत्पत्ति 'मूर' से लगाने का प्रयत्न किया[३]। अत इस पर विचार करने अथवा यह मत स्वीकार करने का प्रश्न ही नही उठता। श्रीमान चादोरकर जी ने मोडी की व्युत्पत्ति 'मौर्यी लिपि से बताते समय कुछ अशा मे इसी प्रकार का तक दिया है। उन्होने लिखा है—ललित विस्तार म चौसठ लिपियो के जो नाम दिये हैं उसस ज्ञात होता है कि जिस प्रकार खरोष्ट्र की खराष्ट्री मागध की मागधी शौरसेन की शौरसेनी बनी उसी प्रकार मौय की मौर्यी रही होगी। उन्होने मोडी का व्युत्पत्तिक्रम इस प्रकार माना है—मौय मौर्यी मोरी मोडी[४]। श्रीमान चादोरकर ने अपने मत की पुष्टि म जो बातें लिखी उनम प्रमाणा की अपेक्षा कल्पना और तक ही अधिक है। मोडी शब्द की मौर्यी से व्युत्पत्ति उसी प्रकार है जिस प्रकार मूरसे मोरीकी व्युत्पत्ति बताना है। दूसरी बात है मौर्यी और मोडी लिपियो म कुछ बातो मे समानता प्राप्त होना। दोनो म जिस प्रकार कही-कही समानता है उसी प्रकार असमानता भी है, इस तथ्य का भी विचार होना आवश्यक है। वसे कुटिल अथवा कथी लिपि म और मोडी मे भी अनेक स्थलो पर साम्य है। अत केवल कुछ बातो मे साम्य प्राप्त होने पर मोडी की व्युत्पत्ति मौर्यी से मानना समीचीन प्रतीत नही होता। उसके लिए और भी वज्ञानिक तक एव प्रत्यक्ष प्रमाणो की आवश्यकता है।

अनुसधान मे प्राप्त अद्यावधि प्रमाणों से मोडी लिपि की व्युत्पत्ति देवनागरी की

---

१ महाराष्ट्रीय ज्ञानकोश—श्री व्य० केतकर, पृ० २१८

२ सेन्सस रिपोट १ (९)—श्री बेन।

३ द मोडी कॅरेक्टर एण्ड इटस ओरिजिन (सन् १९०६ ई०), पृष्ठ ३१

४ आय लिपि—श्री गो० का० चादोरकर, प० ७३

उपलिपि कुटिल अथवा कथी से मानी जाती है। परम्परा, ऐतिहासिक तथ्य, लिपियों की आकृति प्रकृति आदि अनेक बातों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि 'मोडी' का व्युत्पत्ति, 'कथी' से हुई है। शीघ्र लेखन की दृष्टि से मूल वर्णों में आवश्यकतानुसार परिवर्तन कर बनायी गयी वर्णमाला अथवा अक्षर-वाटिका को, 'कुटिल' कहा गया है। मराठी में प्रयुक्त 'मोडी' शब्द संस्कृत के 'कुटिल' का पर्यायवाची है। ११ वीं शताब्दी में बिल्हण, कवि द्वारा लिखित विक्रमांक देवचरित नामक ग्रन्थ में कायस्थ की कुटिल लिपि का सर्वप्रथम उल्लेख प्राप्त होता है।

सो कायस्थं कुटिल लिपिमि मौक्तिदश्चाटुदभै।[१]

इससे स्पष्ट होता है कि कुटिल लिपि का प्रचलन हेमाद्रि के लगभग १५० वर्ष पूर्व रहा था। इतिहास से ज्ञात होता है कि हिसाब किताब लिखकर उपजीविका करने वाले कायस्थ लोग भारत के समस्त प्रान्तों में प्राचीन काल से फैले हुए थे। कायस्थों के अतिरिक्त इसी व्यवसाय पर उपजीविका करने वाली अन्य भी जातियाँ थीं परन्तु इन सभी में कायस्थों का प्रभाव अधिक रहा। कायस्थों में करण नाम की एक उपजाति थी। कनौज के राजा का हिसाब किताब करने वाले अधिकारी की कायस्थ अथवा 'करणिक' संज्ञा रहती थी[२]। इससे 'करण' अथवा 'करणिक' शब्द का रूढ़िगत अर्थ राजव्यवहार का हिसाब किताब देखने वाला अधिकारी हो जाता है। अतः यह शब्द जातिवाचक न रहकर व्यवसायवाचक बन गया। दक्षिण के राष्ट्रकूट राजा अमोघ वर्ष के समय के एक लेख से ज्ञात होता है कि दक्षिण में कायस्थ लोग व्यवसाय के लिए आये थे और अमोघ वर्ष ने अपने शासन काल में शासकीय पत्र-व्यवहार, हिसाब किताब लिखने के लिए इनका उपयोग किया था। कायस्थों को इस प्रकार का आश्रय देने की परम्परा उत्तरकालीन राष्ट्रकूट राजाओं ने भी कायम रखी थी।

देवगिरि के यादव राजा के दरबार में हेमाद्रि 'करणाधीप' के स्थान पर थे। उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि देवगिरि के यादव राजा के सारे शासकीय पत्र-व्यवहार, हिसाब किताब का उत्तरदायित्व हेमाद्रि पर था। वे 'करणों' के अधीप थे। हेमाद्रि के समय देवगिरि के यादव राजा का अधिकार क्षेत्र दक्षिण में कन्याकुमारी तक फैला हुआ था।[३] इससे हेमाद्रि के कार्य की व्यापकता का अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है। अतः इस स्थिति में कम समय में अधिक कार्य करने के लिए किसी शीघ्र लिपि का प्रयोग करना उनके लिए परमावश्यक हो गया। अतः बहुत संभव है कि हेमाद्रि जैसे व्युत्पन्नमति बुद्धिमान् तथा मेधावी व्यक्ति ने देवनागरी की पूर्व प्रचलित कुटिल अथवा कथी उपलिपि में आवश्यकतानुसार हेर फेर कर मोडी लिपि का प्रचलन

---

१ हेमाद्रि उर्फ हेमाडपंत—केशव आप्पा पाध्ये, पृ० २६८

२ हेमाद्रि उर्फ हेमाडपंत, पृ० २६९

३ ऐतिहासिक प्रस्तावना—वि० का० राजवाडे, पृ० ३७७

देवगिरि के राजाओं के अधिकार क्षेत्र में शुरू किया हो। महाराष्ट्र में हेमाद्रि के पूर्व मोडी लिपि लिखने की परम्परा नहीं मिलती। इसलिए अधिकांश लोगों ने हेमाद्रि को ही 'मोडी' लिपि का जनक मान लिया। आज भी अनेक कायस्थों के पास 'मोडी' में हिसाब किताब लिखा जाता है। उनके पास मोडी में लिखित अनेक प्राचीन कागज पत्र उपलब्ध हुए हैं। कालक्रम की दृष्टि से उन हस्त लेखों की परीक्षा करने पर स्पष्ट हो जाता है कि मोडी लिपि 'कयी' का ही परिवर्तित स्वरूप है। अतः हेमाद्रि को मोडी लिपि का वास्तविक प्रवर्तक भले ही न कहा जाए परन्तु इसमें संदेह नहीं है कि महाराष्ट्र में 'मोडी' का प्रचार हेमाद्रि के समय से ही प्रारम्भ हुआ। अतः महाराष्ट्र में मोडी लिपि के प्रथम प्रचारक के रूप में उन्हें गौरव देना अनुचित न होगा। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि फारसी की 'शिकस्ता' लेखन पद्धति का अनुगमन मोडी लिपि में नहीं है बल्कि कयी अथवा कुटिल लिपि का अनुगमन है।

२४ | खुसरो तथा राम जोशी का मनोरंजनात्मक काव्य

मुकरी साहित्य लोक प्रचलित पहेलियों का एक ऐसा रूप होता है जिसका लक्ष्य मनोरंजन के साथ-साथ बुद्धिचातुर्य की परीक्षा लेना भी होता है। इसमें ऐसी ऐसी बातें कही जाती हैं जो द्वयर्थक या श्लिष्ट होती है, पर उन दोनों में से जो मुख्य अर्थ होगा उससे मुकरकर उस छद में दूसरे अर्थ को स्वीकार किया जाता है परंतु यह स्वीकारोक्ति वास्तविक नहीं होती। इसमें प्रस्तुत अर्थ को अस्वीकार करके अप्रस्तुत अर्थ की स्थापना की जाने से इसे छेकापह्नुति भी कहा जाता है। इस पद्धति की काव्य रचना के लिए हिंदी मे अमीर खुसरो और मराठी मे राम जोशी के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। दोनो कवियो की भाषा मे तथा काल मे भिन्नता होने से यद्यपि उनके इस प्रकार के काव्य के रूपरग म पद्धति की शली मे अतर दृष्टिगोचर होता है, फिर भी दोना मे मूल की भावना एक ही है जिसका मुख्य उद्देश्य मनोरंजन है। इस अवसर पर उनके काव्य की छान बीन करना हमारे लिए उतना उचित न होगा जितना कि रसास्वादन लेना। अत उदाहरण के रूप म कुछ छद चुनकर प्रस्तुत किये जा रहे हैं जिनसे उन दोना के मनोरंजनात्मक काव्य की कल्पना की जाए।

अमीर खुसरो की मुकरियो मे यह कल्पना की गयी है कि एक युवती अपनी अतरग सखी से कुछ एसी बातें कह देती है जिसका लगभग सारा वणन उसके साजन से मिलता-जुलता हो। अत म उसकी अतरग सखी वणन से अनुमान कर जब पूछ बैठती है कि क्या सखी वे तुम्हारे प्रियतम साजन तो नहीं है ? तब नायिका तुरत कह दती है कि हे सखी ! तुम्हारी कल्पना बिलकुल गलत है और कुछ एसी वस्तु का नाम बता देती है कि जो कथित वणन से बिलकुल मेल खाती है। नायिका का अपेक्षा के विरुद्ध उत्तर पाकर सखी को आश्चय होता है और विनोद निर्मिति से हँसी भी आती है। इस प्रकार की हँसी तथा विनोद के फुहारे अमीर खुसरो की मुकरियों मे सवत्र पाये जाते हैं।

विवाह के प्रसग म वधू से छेड छाड करना उसकी सखियो को बहुत भाता,

है। छेड छाड के समय वधू का लज्जित होना, विरोध करना, उत्तर न देते हुए मौन रहना, कभी कभी अनुरागात्मक राग प्रकट करना आदि बातें तो सामान्यत होती रहती हैं। परन्तु कभी कभी चतुर वधू भी अपनी नटखट सखियो को ऐसा मजा चखाती है कि बेचारी औंधे मुह खट जाती हैं। एक ऐसी ही वधू बार बार छेडी जाने पर अपनी सखिया से कहती है —

वह आवे तब शादी होय।
उस बीन दूजा और न कोय।
मीठे लाग वाके बोल ।

इस कथन को सुनकर सखियो के मन म स्वभावत विचार उठता है कि जिस के आने पर नायिका की शादी होने वाली है, जिसके बोल नायिका को मीठे लगते ह, तो भला इसके प्रियतम के अतिरिक्त दूसरा होगा ही कौन ? अत ये अतरग सखिया पूछ देती हैं —'ऐ सखी, साजन ?' नायिका हँसकर उत्तर देती है— ना सखी, ढोल !'

एक अभिसारिका अपनी अतरग सखी से कहती है —

रात पडे जब घर मे आवे।
वाका आना मोको भावे ।
कर पकड घर में लिया ।

इस कथन को सुनकर सखी के मन मे सहज भाव उठता है कि रात के होते ही इस नायिका के घर आने वाला, जिसका आगमन नायिका के लिए सुखदायक है ऐसा प्रियवर के अतिरिक्त दूसरा कौन हो सकता है ? अत वह अपनी अभिसारिका नायिका से समस्या करती है— ऐ सखी 'साजन ?' नायिका उत्तर देती है—'ना सखी, दिया !' आपेक्षिक उत्तर से विपरीत उत्तर पाकर हँसी मजाक के फुहारे फूटते हैं।

फागुन के दिनो म रसरग की बहार लूटी जा रही थी। एक दूसरे पर रग की पिचकारी छूटने से नायक नायिका दोनो रग से भीग जाते हैं। इसी प्रसग का उल्लेख कर नायिका अपनी सहेली से कहती है —

रग रास का फाग मचाया।
आप भिज औ मोहि भिजाया।
वाको कौन न चाहे नेह।

नायिका का सकेत सभवत उसके प्रियवर की ओर ही होगा जो होली के अवसर पर फाग खेल रहा है और जिसका भीगना और भिगोना नायिका को भाता है, यह समझकर उनकी सखी पूछती है— ऐ सखी, साजन ? अपनी सखी का अपेक्षा भग करते हुए नायिका उत्तर देती है, 'ना सखी मेह' ।

एक नायिका अपने दुःख का सखी के पास व्यक्त करते हुए कहती है

मुख मेरा चूमत दिनरात ।
होठँ लगत कहत नहीं बात ।
जासे मेरी जगत में पत ।

उसकी सखी सोचती है कि जिससे नायिका की पत इस संसार में है ऐसे दिन रात मुख चूमने वाले प्रियतम के अतिरिक्त दूसरे व्यक्ति हो ही कौन सकेंगे ? अतः वह विश्वास के साथ अपनी सखी नायिका से पूछा करती है — ऐ सखी, साजन ?' नायिका से उत्तर मिलता है —'ना सखी, नथ !' नायिका के द्वारा किया हुआ वर्णन सुनकर किसी के भी मन में यह सहज भाव उठ जाता है कि नायिका अपने पति की ही शिकायत कर रही है परन्तु बात दूसरी ही रही ! प्राचीन काल में नथ का कितना महत्व था यह भी इससे स्पष्ट हो जाता है। इसी प्रकार शृंगार के मधुर आवरण में छिपे हुए मनोविनोद के कई उदाहरण दिये जा सकते हैं। समस्त उदाहरणों को देना तो संभव नहीं है परन्तु कुछ और भी मुकरियां नमूने के तौर पर देखी जा सकती हैं—

जब मोर मंदिर में आवे ।
सोते मुझको आन जगावे ।
पढ़त फिरत वह बिरह के अच्छर ।
ऐ सखी साजन ? ना सखी मच्छर ।

× × ×

बेर बेर सोवतहिं जगावे ।
ना जागूँ तो काटे खावे ।
व्याकुल हुई मैं हक्की बक्की ।
ऐ सखी साजन ? ना सखी मक्खी ।।

× × ×

आगे मेरो लपटा आवे ।
वाका बल मोरे मन भावे ।
कर गहि कुच गहि गहे मोरि माला ।
ऐ सखी साजन ? ना सखी बाला ।

× × ×

सोटी दक मोहि बुलावे ।
रुपया देहूँ तो पास बिठावे ।
ले भागे और खेल खेल ।
ऐ सखी साजन ? ना सखी रेल ।।

जिस प्रकार हिंदी साहित्य में मुकरी जैसे मनोरंजनात्मक काव्य के लिए अमीर खुसरो की प्रसिद्धि है, उसी प्रकार मराठी साहित्य में राम जोशी नामक कवि की

विपरीत उत्तर पाने से सखी को और अपनी वर्णन शैली के कारण सखी के मन में भ्रांति निर्माण करने की खुशी में राधिका को हँसी आ जाती है जो विनोद का विषय बनती है। इसी प्रकार और भी उदाहरण राम जोशी की 'छेकापह्नुति' के अंतर्गत प्राप्त हो जाते हैं।

जिस प्रकार राधिका अपनी अंतरंग सखी के प्रति कुछ ऐसे वचन कहती है कि जिनसे मनोविनोद निर्मिति के मधुर भाव प्रस्फुटित हो सकें, उसी प्रकार कृष्ण भी अपने निकटतम सखा के प्रति भी ऐसा ही वर्णन करता है जिसको सुनकर सखा के मन में प्रायः यही भाव उत्पन्न हो कि संभवतः वह राधा ही हो परन्तु कृष्ण के उत्तर मिलने से उसके इस भ्रम का निवारण हो जाता है और हँसी मजाक हो जाता है। कृष्ण अपने सखा से अपनी इच्छा प्रकट करते हुए कहता है—

कंठि लपेटुनि सदा असावी सुभगा गुणशालिनी।
वाटते पुष्पवती शोभिनी।

सखा सोचने लगता है कि सुंदर गुणवान पुष्पवती ऐसी राधा के अतिरिक्त दूसरी हो ही कौन सकती है जिसका सदैव लिपटे रहना कृष्ण को भाता है? अतः वह कृष्ण से पूछता है— वृषभानूची सुता काय ती राधा लिकुचस्तनी?' अर्थात यह सुभगा गुणशालिनी वृषभानु की पुत्री राधा तो नहीं है। तब सखा की कल्पना का अभाव ठहरा कर कृष्ण कहता है—'नव्हे रे माल आठवली मनी' अर्थात हे सखा, वह राधा नहीं मेरी पुष्पमाला का मुझे स्मरण हो गया।

इसी प्रकार दूसरी इच्छा प्रकट करते समय कृष्ण अपने सखा से कहते हैं—

अधर चुंबिनी वंशसंभवा लालस मधुर ध्वनी।
असावी मुखासि मुख लावुनी।

कृष्ण के द्वारा कथित वाक्यों की शब्द योजना से सखा के मन में प्रथम राधिका का ही विचार उठता है और उसी को कृष्ण के मुख से सुनने की इच्छा से वह कृष्ण से पृच्छा करता है— वृषभानूची सुता काय ती राधा लिकुचस्तनी?' अपेक्षित उत्तर से भिन्न जवाब देते हुए कृष्ण कहता है— नव्हे रे मुरली जगमोहिनी अर्थात हे सखा, मैं जिसका चूमना चाहता हूँ वह उत्तम वंश में उत्पन्न मधुर ध्वनि युक्त राधा नहीं है बल्कि वंश की बनी हुई मधुर ध्वनि देने वाली मुरली है।

सदैव साथ रहने वाला सरला सुंदरा गौरवर्णीय यष्टिका का वर्णन इसी प्रकार मनोरंजक बना है। कृष्ण अपने सखा से कहता है—

सरला ती सद्वंशा गौरा अतिशय सयोगिनी।
येतसे करीं धरुनि जे वनीं।

सखा पृच्छा करता है।

वृषभानूची सुता काय तीं राधा लिकुचस्तनी।

और कृष्ण उत्तर देता है—

न हे रे यष्टि सहचारिणी।

इस प्रकार और भी मनोविनोदात्मक छन्द द्रष्टव्य हैं—

नयनतारे मदुवयणतो नयनवगुणरागिणी।
घरायो घाटे कवटालुनि।
वृषभानूचो सुता काय ती राधा लिकुचस्तनो।
नम्हे र वीणा मदुभाषिणो।

अमीर खुसरो की मुकरिया की तुलना मे राम जानी की 'धकापदूति' भाषा भाव की दृष्टि से अधिक मँजी हुई दिखाई देती है। दोनो मे शृगार की भावना एक सी है। यद्यपि मनोरजन पर लिखित साहित्य के अन्तर्गत और भी विधाओ का समावेश हो सकता है फिर भी शृगार रस के अवगुठन म स्थित मनोरजन की यह शैली अपना विशेष महत्त्व रखती है। यह परपरा भारत म बहुत प्राचीन काल स प्रचलित है। युग के साथ आचार विचारो म, आकार प्रकारो मे, रूप रगो म, व्यक्ति अभिव्यक्तियो मे भले ही अन्तर होता रहे परन्तु जब तक इस धरती पर युवक रहेग तब तक शृगार-रस के ये छीटे उछलते ही रहेंगे।

२५ | होनहार महाकवि का त्यागपत्र

१२ बरस हुए उस घटना को जब हमारे हिंदी विद्यालय का विदाई समारोह मनाया गया था। उस समारोह के सभापति हिंदी के लब्ध प्रतिष्ठ साहित्यिक थे। उस समय मैंने टूटी फूटी हिंदी म एक कविता रच डाली और पढी भी। कविता की पक्तियाँ थी—

> विदा होते देख तुमको रज होता है मुझे।
> रज में भी गव आती परम सुख की है मुझे।
> हिंदी का जो प्रेम तुमने दे परीक्षा है दिखाया।
> धन्य हो तुम राष्ट्रसेवक राष्ट्रभाषी बन दिखाया।

समारोह समाप्त होते ही सभापति ने मुझे पास बुलाया और मेरी कविता की भूरि भूरि प्रशंसा करते हुए कहा, 'तुम्हारी कविता बडी सुदर थी। और थोडा प्रयास करोगे तो एक दिन हिंदी काव्य क्षेत्र म अवश्य चमकोगे।" सभापति की तरह अन्य उपस्थित लोगो ने भी मुझे हिंदी का होनहार श्रेष्ठ कवि माना। फिर क्या? इस प्रशसा से तो मेरी छाती खुशी से फूल गयी और मैं कवि ही नहीं वरन महाकवि बनने के सपने देखने लगा। अब तक जो महाकवि मेरी दृष्टि मे अत्यत निरादरित लगते थे (उनका काव्य मेरी तुच्छ बुद्धि के परे होने के कारण) वे महाकवि अब मेरी दृष्टि मे ईश्वर से भी अधिक श्रेष्ठ आदरणीय लगने लगे। जहाँ कहीं किसी महाकवि की चर्चा छिडती, मेरा सिर श्रद्धा म झुक जाता। मामूली फुटकल कविता लिखना मुझे बुरा लगने लगा और नित्य निरतर मैं महाकाव्य के नये विषय की खोज म अपने को खोने लगा। ध्येय की तीव्र अभिलाषा और सदैव उसी का चितन देखकर श्रद्धालु, हितैषी और दयालु लोगो ने मेरे दृढ विश्वास की प्रशसा की तो कुछ मूख नासमझ लोगो ने मेरी खिल्ली भी उडाने का प्रयास किया। मेरे कई मित्रो ने कहा कि भाई दिवाकर अब महाकाव्य का जमाना बीत गया है, यह तो कहानी-उपन्यासो का युग है। यदि तुम कहानी उपन्यास लिखोगे तो अधिक अच्छा होगा। पर उनकी सदिच्छा मैं क्या मानने लगा? मेरे सिर पर तो महाकवि बनने का हा

पति की यथार्थ दुर्बलता देखकर वह नारी लोक लज्जा तथा ग्लानि से कह उठी—

साज न आवत आपको दौरे आयेहु साथ।
धिक धिक ऐसे प्रेम को कहाँ कहौं मैं नाथ॥
अस्थि चरममय देह तामें ऐसो प्रीत।
तैसो जो श्रीराममेंह होतो न तो भव भीत॥

रत्नावली की इस अनपेक्षित भर्त्सना से तुलसी का भावुक हृदय अत्यन्त विह्वल हुआ और उसी तीव्रतर वेदना [redacted] ग्लानि के कारण ही तुलसी के सुप्त भाव-स्फुलिंग प्रस्फुटित हुए जो 'रामचरित मानस' जैसे सर्वश्रेष्ठ महाकाव्य में परिणीत हो उठे।

महाकवि बिहारी भी अपने प्रारम्भिक जीवन में साधारण रंगीले व्यक्ति का जीवन बिताते थे। जवानी के दिन पत्नी के सान्निध्य में ससुराल में ही एशोआराम से विलासी की जिंदगी बसर करते थे। 'असारे खलु संसारे सारं श्वसुर मंदिरम्' इस सिद्धान्त के निष्ठावत पुजारी थे। बिना कुछ भी कमाये ससुराल में रहने में उन्हें कुछ भी बुरा न लगता था। पर उनकी प्यारी पत्नी को अपने पति का निठल्लापन भूषण नहीं दूषण लगने लगा। एक दिन क्रोध में आकर वह कह ही बैठी "इस तरह ससुराल की बासी रोटी कब तक खाइएगा? कुछ अपनी ताजी रोटी भी कमाना जानते हो?" यौवन की मधुरिमा में विहार करने वाले रसिक के सुकोमल हृदय पर पत्नी के इस वचन ने हथौड़े का काम किया। मोह विलास का स्वाभिमान जाग उठा। पत्नी की व्यंग्योक्ति ने कोमल हृदय को घायल कर दिया। ऐसा लगता है कि उसी व्यंग्योक्ति से विह्वल होकर वे जयपुर के नरेश के पास गये जो अपनी नवेली रानी के प्रेम में राजकाज को भूल बैठा था। बिहारी के इस दोहे ने—

नहिं पराग नहिं मधुर मधु नहिं विकास एहि काल।
अलि कली ही सो बिंध्यो रह्यो आगे कौन हवाल॥

उसकी आँखें खोल दी। यह निठल्ला युवक वही महाकवि बिहारी है जिसने 'बिहारी सतसई' जैसा अद्वितीय काव्य ग्रंथ लिखा।

इस तरह अन्य कई कवियों तथा महाकवियों का का पूर्व जीवन ज्यों-ज्यों मैं देखने लगा त्यों-त्यों मेरा इस बात पर पूर्ण विश्वास होता गया कि महाकवि होने के लिए किसी अलौकिक बुद्धिमत्ता का जन्म से ही होना बिल्कुल आवश्यक नहीं है। जब एक साधारण लुटेरा 'रामायण' जैसे महाकाव्य का निर्माण कर आदि महाकवि बन सकता है, एक मूर्ख, गवार चरवाहा भी जब कवि-कुलगुरु कालिदास बन सकता है, एक दरिद्र, दुर्बल लंपट व्यक्ति भी रामचरित मानस जैसा महाकाव्य लिखकर महाकवि बन सकता तब मेरे लिए महाकवि बनना कुछ भी कठिन न होगा। इस विचार से मैं इतना झूम उठा कि वाल्मीकि, कालिदास तुलसीदास आदि महाकवियों की पंक्ति में भावावेग में कब आ बैठा इसका पता तक न लगा।

२५ | होनहार महाकवि का त्यागपत्र!

१२ बरस हुए उस घटना को, जब हमारे हिंदी विद्यालय का विदाई समारोह मनाया गया था। उस समारोह के सभापति हिंदी के लब्ध प्रतिष्ठ साहित्यिक थे। उस समय मैंने टूटी फूटी हिंदी म एक कविता रच डाली और पढी भी! कविता की पक्तिया थी—

विदा होते देख तुमको, रज होता है मुझे।
रज में भी मध आती परम सुख की है मुझे।
हिंदी का जो प्रेम तुमने वे परीक्षा है दिखाया।
धय हो तुम राष्ट्रसेवक राष्ट्रभाषी बन दिखाया।

समारोह समाप्त होते ही सभापति ने मुझे पास बुलाया और मेरी कविता की भूरि भूरि प्रशसा करते हुए कहा, "तुम्हारी कविता बडी सुदर थी। और थोडा प्रयास करोगे तो एक दिन हिंदी काव्य क्षेत्र म अवश्य चमकोगे।' सभापति की तरह अय उपस्थित लोगो ने भी मुझे हिंदी का होनहार श्रेष्ठ कवि माना। फिर क्या? इस प्रशसा से तो मेरी छाती खुशी से फूल गयी और मैं कवि ही नही वरन् महाकवि बनने के सपने देखने लगा। अब तक जो महाकवि मेरी दृष्टि म अत्यत निरादरित लगते थे (उनका काव्य मेरी तुच्छ बुद्धि के पर होने के कारण) वे महाकवि अब मेरा दृष्टि मे ईश्वर से भी अधिक श्रेष्ठ आदरणीय लगने लग। जहाँ कही किसी महाकवि की चर्चा छिडती, मेरा सिर श्रद्धा से भुक जाता। मामूली फुटकल कविता लिखना मुझे बुरा लगने लगा और नित्य निरतर मैं महाकाव्य के नये विषय की खोज म अपने को खो र लगा। ध्येय की तीव्र अभिलाषा और सदव उसी का चितन देखकर श्रद्धालु हितैषी और दयालु लोगो ने मेरे दृढ विश्वास की प्रशसा की तो कुछ मूख, नासमझ लोगो ने मेरी खिल्ली भी उडाने का प्रयास किया। मेरे कई मित्रो ने कहा कि भाई दिवाकर, अब महाकाव्य का जमाना बीत गया है, यह तो कहानी-उपन्यासो का युग है। यदि तुम कहानी उपयास लिखोगे तो अधिक अच्छा होगा। पर उनकी सदिच्छा मैं क्या मानने लगा! मेरे सिर पर तो महाकवि बनने का हा

पति की वययिक दुर्बलता देखकर वह नारी लोक लज्जा तथा ग्लनि से कह उठी—

लाज न आवत आपको दौरे आयेहु साथ।
धिक धिक ऐसे प्रेम को कहा कहौं मैं नाथ॥
अस्थि चरममय देह तामें ऐसी प्रीत।
तसी जो श्रीराममंह होती न तो भव भीत॥

रत्नावली की इस अनपेक्षित भर्त्सना से तुलसी का भावुक हृदय अत्यन्त विह्वल हुआ और उसी तीव्रतर वेदना तथा ग्लानि के कारण ही तुलसी के सुप्त भाव स्फुलिंग प्रस्फुटित हुए जो 'रामचरित मानस' जसे सर्वश्रेष्ठ महाकाव्य में परिणीत हो उठे।

महाकवि बिहारी भी अपने प्रारभिक जीवन मे साधारण रगीले व्यक्ति का जीवन बिताते थे। जवानी के दिन पत्नी के सानिध्य म ससुराल मे ही एशोआराम से विलासी की जिंदगी बसर करते थे। 'असारे खलु ससारे सार श्वसुर मदिरम्" इस सिद्धा त के निष्ठावन पुजारी थे। बिना कुछ भी कमाये ससुराल मे रहने म उन्हें कुछ भी बुरा न लगता था। पर उनकी प्यारी पत्नी को अपने पति का निठल्लापन भूषण नही दूषण लगने लगा। एक दिन क्रोध म आकर वह कह ही बठी 'इस तरह ससुराल की बासी रोटी कब तक खाइएगा ? कुछ अपनी ताजी रोटी भी कमाना जानते हो ?" यौवन की मधुरिमा म विहार करने वाले रसिक के सुकोमल हृदय पर पत्नी क इस वचन ने हथौडे का काम किया। मोह विलास का स्वाभिमान जाग उठा। पत्नी की व्यग्योक्ति ने कोमल हृदय को घायल कर दिया। ऐसा लगता है कि उसी व्यग्योक्ति से विह्वल होकर वे जयपुर के नरेश के पास गये जो अपनी नवेली रानी के प्रेम म राजकाज को भूल बठा था। बिहारी के इस दोहे न—

नहिं पराग नहिं मधुर मधु नहि विकास एहि काल।
अलि कली ही सो विध्यो रह्यो आगे कौन हवाल॥

उसकी आखें खोल दी। यह निठल्ला युवक वही महाकवि बिहारी है जिसने 'बिहारी सतसई' जैसा अद्वितीय काव्य ग्रथ लिखा।

इस तरह अन्य कई कवियो तथा महाकवियो का कार्यपूर्व जीवन ज्यो-ज्यो मैं देखने लगा त्यो त्यो मेरा इस बात पर पूर्ण विश्वास होता गया कि महाकवि होने के लिए किसी अलौकिक बुद्धिमत्ता का जन्म से ही होना बिल्कुल आवश्यक नहीं है। जब एक साधारण लुटेरा 'रामायण' जसे महाकाव्य का निर्माण कर आदि महाकवि बन सकता है, एक मूर्ख, गवार चरवाहा भी जब कवि-कुलगुरु कालिदास बन सकता है एक दरिद्र, दुर्बल हापट व्यक्ति भी रामचरित मानस जसा महाकाव्य लिखकर महाकवि बन सकता तब मरे लिए महाकवि बनना कुछ भी कठिन न होगा। इस विचार से मैं इतना झूम उठा कि वाल्मीकि, कालिदास, तुलसीदास आदि महाकवियो की पक्ति मे भावावेग में कब जा बैठा इसका पता तक न लगा।

लेकिन कल्पना जगत का महाकवि बनने का भाग्य भी अधिक देर तक न मिल सका क्योंकि दूसरे ही क्षण जब बुद्धि ने कहा कि महाकवि के लिए प्रियतमा या पत्नी के द्वारा हृदय पर ऐसा आघात होने की आवश्यकता है, जिससे असह्य वेदना तथा दुःख के कारण हृदय के भावों में उथल पुथल मच जाए और वे ही शब्द रूप भाव काव्य को जन्म दे सकते हैं तब सहसा इस कल्पना मात्र से ही मैं थर्रा उठा। मेरी प्रियतमा पत्नी से मेरा धिक्कार ! मेरे स्वाभिमान पर कुठाराघात !! कोमल हृदय पर व्यंग बाणावली !!!—असंभव ! असंभव !! महाकवि बनने के लिए इतना भारी मूल्य ? और वह भी इस कलयुग में ? इससे महाकाव्य आलोचक बनना अधिक अच्छा जिसको महाकवि जैसा दिव्य तो नहीं करना पड़ता। मेरे हितैषी मित्र बीच में पूछते हैं कि आपका महाकाव्य कहाँ तक आया तो मैं प्रायः उत्तर देता हूँ कि महाकाव्य के अनुकूल यह युग है ही नहीं। महाकाव्य यदि लिखा भी गया तो कितने लोग उसका मौलिक रसास्वादन कर सकेंगे ? यह युग वास्तविक अर्थ में आलोचना का है। इसीलिए मैं आलोचक बना हूँ। महाकवियों से अब मैं दूर क्यों भागता हूँ इसका रहस्य मेरी प्राणप्रिय पत्नी तक न जान पायी तो औरों की बात ही क्या ?



रति की वैषयिक दुर्बलता देखव

साज न
धिक धि
अस्थि च
तसी जो

रत्नावली की इस व्यन
विह्वल हुआ और उसी तीव्रतर
भाव स्फुलिंग प्रस्फुटित हुए जा
णीत हो उठें।

महाकवि बिहारी भी
जीवन बिताते थे। जवानी के f
विलासी की जिंदगी बसर करते
सिद्धा न के निष्ठावन पुजारी
कुछ भी बुरा न लगता था। प
भूषण नहीं दूषण लगने लगा।
ससुराल की बासी रोटी कब त
जानते हो ?" यौवन की मधुरि
पत्नी के इस वचन न हथौड़े ना
उठा। पत्नी की व्यग्योक्ति ने
उसी व्यग्योक्ति से विह्वल होक
रानी के प्रेम म राजकाज को भ

नहिं पराग नहिं
अलि कली ही र

उसकी आँखें खोल दीं।
'विहारी सतसई' जसा अद्वितीय

इस तरह अन्य कई कवि
मैं देखने लगा त्यों त्यों मेरा इस
के लिए किसी अलौकिक बुद्धिमत
जब एक साधारण लुटेरा रामाय
सकता है, एक मूर्ख, गवार चरवा
दरिद्र, दुर्बल लपट व्यक्ति भी
बन सकता तब मेरे लिए महाकवि
इतना झूम उठा कि वाल्मीकि, व
म भावावेग में कब आ बठा इसक

लेकिन कल्पना जगत का महाकवि बनने का भाग्य भी अधिक देर तक न मिल सका क्योंकि दूसरे ही क्षण जब बुद्धि ने कहा कि महाकवि के लिए प्रियतमा या पत्नी के द्वारा हृदय पर ऐसा आघात होने की आवश्यकता है, जिससे असह्य वेदना तथा दुःख के कारण हृदय के भावों में उथल पुथल मच जाए और वे ही शब्द रूप भाव काव्य को जन्म दे सकते हैं, तब सहसा इस कल्पना मात्र से ही मैं थर्रा उठा। मेरी प्रियतमा पत्नी से मेरा धिक्कार ! मेरे स्वाभिमान पर कुठाराघात !! कोमल हृदय पर व्यंग बाणावली !!! — असंभव ! असंभव !! महाकवि बनने के लिए इतना भारी मूल्य ? और वह भी इस कलयुग में ? इससे महाकाव्य आलोचक बनना अधिक अच्छा जिसको महाकवि जैसा दिव्य तो नहीं करना पड़ता। मेरे हितैषी मित्र बीच में पूछते हैं कि आपका महाकाव्य कहाँ तक आया तो मैं प्रायः उत्तर देता हूँ कि महाकाव्य के अनुकूल यह युग है ही नहीं। महाकाव्य यदि लिखा भी गया तो कितने लोग उसका मौलिक रसास्वादन कर सकेंगे ? यह युग वास्तविक अर्थ में आलोचना का है। इसीलिए मैं आलोचक बना हूँ। महाकवियों से अब मैं दूर क्यों भागता हूँ इसका रहस्य मेरी प्राणप्रिय पत्नी तक न जान पायी तो औरों की बात ही क्या ?

